भारतीय संस्कृति के स्रोत

भगवत शरण उपाध्याय

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड

नई दिल्ली अहमदाबाद बम्बई

क्रम

	प्रस्तावना	क
१	समग्र इतिहास, समग्र संस्कृति	१
२	आर्य और उनके पूर्ववर्ती	९
३	वेद और मध्यपूर्व	१५
४	असूरी और फिनीशी	२६
५	ईरान का प्रभाव	३८
६	भारतीय यूनानी और रोमन	५०
७	शक	६७
८	कुषाण	७८
९	वे आये, जीते और विलीन हो गये	८९
१०	इस्लाम का प्रादुर्भाव	९५
११	इस्लाम का योगदान	१०४
१२	उर्दू भाषा	११४
१३	अन्त्यालोचन	११९

प्रस्तावना

डा भगवत शरण उपाध्याय जैसे इतिहासकार, पुराविद और पुरातात्विक मामलो म शोधकार्य विशषज्ञ लखक की इस महत्वपूर्ण पुस्तक की प्रस्तावना लिखने का विचार ही एक प्रकार की धृष्टता है। फिर भी कुछ कारण विशष से मझे यह प्रस्तावना लिखने की प्रेरणा मिली। फलत मै प्रस्तावना के ये शब्द जोड रहा हू।

भगवत शरण जी की इस पुस्तक के कछ अश जनयुग तथा अग्रेजी साप्ताहिक न्यू एज म धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए थे। प्रस्तुत पुस्तक म तो उन्होने उन लेखो को और भी सवारा तथा विस्तृत किया है। किन्तु जब मैने वे लेख पढे थे, तभी मेरे मन मे प्रतिक्रियाए हुई थी और वे ही इस प्रस्तावना का अकुर बनी।

''भारतीय सस्कृति के स्रोत' —यह शीर्षक मात्र पूरी पुस्तक को रूह उभार कर रख देता है। ''भारतीय सस्कृति अन्तहीन विभिन्न जातीय इकाइयो के सुदीर्घ सलयन का प्रतिफलन है'', यह अत्यन्त वैज्ञानिक तथा मानवतावादी दृष्टिकोण सारी पस्तक मे लगातार उभरता रहता है। भारतीय सस्कृति के इस प्रकार के सर्वागी, व्यापक तथा लगातार आत्मसात करने वाले रूप की ओर सकेत करते समय भगवत शरण जी ने अतीत से वर्तमान तक एक विहगम दृष्टि डाली है। ''अनगिन कबीलो ने, सभ्य भी बर्बर भी, भारत की सीमाए लाघ कर इस देश मे प्रवेश किया, यहा के सामाजिक ताने-बाने मे अपनी नयनाभिराम छबिया डाली, स्वय इसमे विलीन हो गये, उसे उसकी अद्यावधि अनजानी अपनी विचित्र रवादारिया की शक्ति प्रदान की। कशीदे पर कशीदे कढते गये, सामाजिक सगठन के वितान मे रगो की नई बहार आयी।''

पूरी पुस्तक मे आर्य और उनके पूर्ववर्ती लोगो से लगा कर इस्लाम व एक हद तक अग्रजो के काल तक के इतिहास, सास्कृतिक रुझानो, उपलब्धियो तथा उनके स्रोत, इन सब पर अत्यन्त पैना, वैज्ञानिक

तथा तथ्यों पर आधारित विवेचन किया गया है। परन्तु भगवत शरण जी की शैली एक शिक्षक वैज्ञानिक की है।

मुझे ऐसा लगा कि इस पुस्तक में न सिर्फ उपरोक्त विवेचन है, वरन् भारतीय संस्कृति के नाम पर भारतीय परंपराओं की आड़ में फैलायी जाने वाली भ्रांत, संकुचित तथा सम्प्रदायवाद से दूषित अनेक मान्यताओं का प्रबल खंडन भी है। पुस्तक की स्कीम में यह बात पूर्णतया उभर कर नहीं आती। यही कारण है कि प्रस्तावना में मैं उस ओर विशेष संकेत कर रहा हूं।

कुछ लोग आज भारतीय संस्कृति का अर्थ बताते हैं—हिन्दुत्व, हिन्दू राष्ट्र! इस आधार पर वे लोग "भारतीयकरण" का नारा भी देते हैं।

परन्तु तथ्य इस विकृत नजरिये के कितने विपरीत हैं। हिन्दू शब्द के उपयोग की शुरुआत तो ५४६ तथा ५२५ ई. पू. के बीच हुई। "अपने पुरालेख में दारा ने भारत और भारतीयों के अर्थ में पहली बार हिन्दी शब्द का प्रयोग किया था जिसको बाद में, बहुत बाद में, भारतीय साहित्यों ने ग्रहण किया और जिसको हिन्दी और हिन्दू के रूप में बार-बार दोहराया।" "फारसवासियों के अतिरिक्त फिनीशी भी बाल शब्द को संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं में लाने के लिए बहुत हद तक जिम्मेदार माने जा सकते हैं।"

असुरों अर्थात् असूरियों का सामान्य रूप से ऐसा चित्र खींचा जाता है, मानों वे लोग अत्यंत हीन व पशुबली ही थे। परन्तु शतपथ ब्राह्मण में जल-प्रलय की कहानी को लिखते समय कहा गया है कि जब मनु अपनी नाव से एक ऊंची पथरीली भूमि पर सकुशल उतरा तब जीव युग्मों की रक्षा के लिए उसने देवता की स्तुति में बलि चढ़ाना चाहा। जब बलि चढ़ाने वाले पुरोहित उसे नहीं मिल सके तब उसने 'असुर' पुरोहितों का आह्वान किया (असुर ब्राह्मण इति आहूतः)। इस प्रकार जल-प्रलय की कथा असूरियाइयों के जरिये सुमेरी परंपरा से ली गयी है।

६० के गणन की षष्ठिक प्रणाली भारत ने यूनानियों से सीखी। जन्मकुण्डली के लिए संस्कृत में कोई शब्द नहीं। भारतीय ज्योतिषी इसके लिए विदेशी शब्द 'होडाचक्र' का उपयोग करते थे, जो यूनानी शब्द होरस् (सूर्य देवता) से बना है।

शकों ने हमें शक संवत दिया। अरबों से हमने खगोलीय चिह्नों की गणना का नया तरीका पंचांग और ताजिकिस्तान में फारसी भाषा

मे तैयार किये गये ताजिकी ग्रंथ के अंतर्गत ढेर सारे विज्ञान लिये। इस्लाम का तो भाषा, साहित्य, कला, विज्ञान—हर क्षत्र मे प्रभाव पड़ा है। सगीत मे राग यमन, जिला दरबारी, खम्माज, कान्हडा और तोडी, खाने मे अनेक मिठाइयां, पहनावा तथा वास्तुशिल्प कला—हर पहलू मे इसका प्रभाव है। सामान्य बोलचाल के हजारो शब्द हमने लिये। रोटी तुर्की शब्द है। कागज, मोहल्ला, जिला, पता, हलवा, गुलाब, नारगी, दूकान, जब, दर्जी, रेशम—कोई गिन्ती नही। भगवत शरण जी ने ठीक ही कहा है, "क्या गांधी जी के चर्खे से या दैनदिन रोटी या चपाती से अधिक महत्वपूर्ण कोई शब्द हो सकता है?"

सकुचित रूप से इतिहास को इंगित करने वालो ने क्या कभी बैठ कर सोचा है कि पद्मिनी तथा अन्य वीर महिलाओं की जौहर की गाथा मे जौहर स्वत एक विजातीय शब्द है ?

भगवत शरण जी ने पुस्तक मे इस प्रकार के विकृत मनोभावो के प्रतिफलीकरण के रूप मे इतिहास के अध्ययन के प्रति चेतावनी दी है।

इस प्रकार का नजरिया राष्ट्र दम्भवाद बन जाता है। "इतिहासकार को अपने को राष्ट्रीय दम्भवाद के विरुद्ध सचेत रखना पड़ेगा, अन्यथा गौरवशाली ताजमहल किसी तुच्छ 'हिन्दू सरदार का व्यक्तिगत महल' और उसका शिखर शिव का त्रिशूल मात्र बन कर रह जायगा।"

* * *

संस्कृति के प्रति एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण अत्यन्त आवश्यक है। भगवत शरण जी की पुस्तक का मूल आधार ऐतिहासिक है। "इतिहास परिवर्तन प्रक्रिया है। परिवर्तन उत्पादन के साधनो मे परिवर्तन से पैदा होता है।" "हर ह्रासोन्मुख समाज स्वयं अपनी कब्र खोदने वाला वर्ग पैदा कर लेता है।"

यदि इतिहास, समाज, सभ्यता, संस्कृति इत्यादि के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण न अपनाया जाय तो अपने देश की महान सांस्कृतिक धरोहर की उन्नतिशील व उपयोगी उपलब्धियो को विकसित कर उन्हे और आगे बढाने के प्रयत्न के बजाय अपने अतीत के हर अंग और पहलू को कठमुल्ले की तरह पकड उसी के गीत गाने का दकियानूसी रास्ता ही संस्कृति का पर्याय बन जायगा।

भारतीय संस्कृति की परंपराएं महान हैं। परन्तु कई ऐसी बाते हैं जो एक समय और काल विशेष के लिए तो उपयोगी थी, किन्तु आज—बदली हुई सामाजिक परिस्थितियो मे—उन्हे वैसे ही लागू

करने का यत्न प्रगति के लिए बेड़ियां बन कर रह जायगा। वर्ण-व्यवस्था एक समय शायद स्वाभाविक थी, इतिहास के उस काल मे उसका उपयोग भी था। परन्तु आज समाज के एक प्रबल तथा मेहनत करने वाले अग को ''शूद्र'' कह कर उसे दबाये रखने का प्रयत्न घोर अन्याय होगा; उस काल के गुणो की रट लगाते-लगाते ''भारतीय संस्कृति'' के नाम पर उन्हे हीन कहना, उन्हे बस्तियो से बाहर रखने की बात की पुष्टि करना किसी को ''शंकराचार्य'' पद पर सुशोभित करने मे भले ही सहायक हो, परन्तु भारतीय समाज के लिए, भारतीय संस्कृति की मानववादी परपराओ के लिए, यह अक्षम्य अपराध होगा। कौन-सा समझदार व्यक्ति---पांडवो की पुष्टि करता हुआ---आज के समाज मे पाच-पाच पुरुषो के लिए एक ही पत्नी द्रौपदी की कल्पना का पक्षधर बन सकता है ? और फिर उसे किसी सामान्य वस्तु की भांति जुवे के दाव पर लगा देना !---इसे भी जो ''भारतीय संस्कृति'' के नाम पर उत्कृष्ट कार्य बतायेंगे, वे वास्तव मे संस्कृति के द्रोही हैं।

अपने समय मे मनु तथा उनकी **स्मृति** ने समाज मे और शासक वर्गो के लिए व्यवस्था लाने मे उपयोगी कार्य भले ही किया हो; परन्तु अपने काल की सामाजिक सीमाओ मे लिखित यह **मनुस्मृति** ब्राह्मण को शूद्र स्त्री से बलात्कार करने पर भी केवल कुछ राशि धन का ही जुर्माना अदा करने की व्यवस्था करती है, जब कि दूसरी ओर किसी शूद्र द्वारा ब्राह्मण स्त्री के साथ दुर्व्यवहार मात्र पर मौत की सजा की---और शूद्र द्वारा ब्राह्मण को अपशब्द मात्र कहने पर उसकी जीभ तक काट लेने की---व्यवस्था करती है। आज **मनुस्मृति** को पवित्र, चिरस्थायी मानने वाले लोग ''भारतीय सस्कृति'' के नाम का केवल आडबरीय खोल ओढ़ने वाले लोग हैं; ऐसी व्यवस्था के आज भी हामी बनने वाले भारतीय संस्कृति की महान, परिवर्तनशील, काफी हद तक लचीली तथा सुसमृद्ध धरोहर को विध्वंस करने वाले लोग हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को अपना देश प्यारा होता है, वह अपने अतीत की उपलब्धियो के प्रति स्वाभाविक गर्व का अनुभव करता है। और, भारत तो वह महान देश है जिसने न सिर्फ दुनिया को बहुत कुछ दिया है वरन् दुनिया के विभिन्न कबीलो से---चाहे वे आक्रामक बन कर आये अथवा सौदागर---उनकी सांस्कृतिक उपलब्धियो को निःसंकोच अगीकार कर, उन्हे आत्मसात कर, अपनी महान संस्कृति के सागर मे उन्हे विलीन कर हजारो वर्षो पुरानी इस संस्कृति का लगातार विकास किया। इस सांस्कृतिक धरोहर पर गर्व होना स्वाभाविक है।

परन्तु विवेक का यह भी तकाजा है कि हम यह समझे, और इस सत्य को—चाहे वह कितना ही कटु क्यों न प्रतीत हो—स्वीकार कर कि इस सांस्कृतिक विरासत में दोनों पुट शामिल हैं। इसका एक अंग वह है जो एक समय और काल विशेष के लिए उपयोगी भले ही रहा हो, परन्तु जिसे आज के युग के लिए अनुपयुक्त तथा हानिकारक समझ कर हमें त्यागना होगा। ऐसी चीज वास्तव में सांस्कृतिक धरोहर नहीं, नदी के स्वच्छ जल के साथ चलने वाला कूड़ा और करकट है।

हमारी संस्कृति का दूसरा अंग वह है जो मानववादी, विवेकपूर्ण, नई मान्यताओं और स्थापनाओं का अंगीकारक है, जिसे हमें अपनाना होगा और विकसित करना होगा। एक ओर हमारी संस्कृति का वह महान अध्याय है जिसे सांख्य तथा बौद्ध दर्शन के विद्वानों ने, लोकायत के महान विचारकों ने, भौतिकवादी सज्ञान की दिशा में महाप्रयत्न के रूप में प्रस्तुत किया। दूसरी ओर हमारी संस्कृति का वह अंग है जिसने राज्य के जोर-दबाव पर उक्त विचारधाराओं को दंड-विधान से दबाया, समूल नष्ट किया तथा उन्हें प्रतिपादित करने वाले साहित्य को जला तक डाला।

हमारी महान संस्कृति की एक महान धरोहर है सूफियों और संतों का, तुकाराम, कबीर तथा चैतन्य का, वह युग जिसमें मानव मानव की समानता को स्वीकार किया गया। पंडितों की लच्छेदार टिप्प-णियों से पूर्ण, परन्तु शासक हित में तैयार की गयी, नियमावली को तोड़—चाहे भक्ति के रूप में ही क्यों न हो—जात-पात के बंधनों को तोड़ने वाला नारा अपनाया गया जात-पात पूछै नहीं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।।"

यह है विरासत जिसे हमें अपनाते हुए और आगे बढ़ाना है।

दूसरी ओर हमारे समाज व संस्कृति का वह अंग भी है जिसमें एक आदिवासी परन्तु होनहार बालक एकलव्य को ऋषि द्रोणाचार्य ने धनुष विद्या सिखाने से इन्कार कर दिया क्योंकि वह "दलित" था, राजा का बेटा नहीं था। और, जब इस होनहार बालक ने स्वयं अपने प्रयत्नों से धनुष चलाने में पूर्ण कुशलता प्राप्त कर ली और राजा के बेटे अर्जुन और कान से पैदा हुए कुन्ती के बालक (अर्थात् अविवाहित स्थिति में उत्पन्न पुत्र) कर्ण को परास्त कर दिया, तो राजसत्ता के हामी ऋषि द्रोणाचार्य ने अपनी मूर्ति मात्र की पूजा की दक्षिणा के रूप में उस होनहार बालक का अंगूठा कटवा लिया।

''भारतीय संस्कृति'' के नाम पर दलित किन्तु होनहार बालको की प्रतिभा को एकलव्य के अंगूठे की तरह कटवा डालने की मान्यता को प्रस्तावित करने का आज कोई भी प्रयत्न भारतीय संस्कृति के साथ घोर अन्याय होगा, उसका घोर अपमान होगा। यह हमारी शानदार सास्कृतिक परंपरा पर एक क्रूर कुठाराघात होगा।

इतिहास तथा सांस्कृतिक परंपराओं पर ऐसा ऐतिहासिक तथा विवेकशील दृष्टिकोण अपनाने के लिए सही समझ और तथ्यपूर्ण ज्ञान की आवश्यकता होती है। ''भारतीय संस्कृति के स्रोत'' में की गयी मीमांसा तथा दिग्दर्शन हमारे इतिहास व हमारी शानदार सांस्कृतिक धरोहर को समझने में अत्यन्त उपयोगी सामग्री ही नहीं है, वरन् पाखंडपूर्ण, दंभी, अतीत की स्मृति मात्र में डूबे दकियानूसी नजरिये का सशक्त खंडन भी है।

अपने देश की सास्कृतिक महानता के अनुभव का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि हम अपने नजरिये को दंभपूर्ण राष्ट्रवाद या कूपमंडूकता का नजरिया बना दें। भगवत शरण जी की पुस्तक में एक सही अन्तर्राष्ट्रीय नजरिया आदि से अन्त तक व्याप्त है।

अंग्रेजों के भारत में पदार्पण तथा भारत पर साम्राज्य जमाने का भी जो मूल्यांकन उन्होंने किया है, वह इसका साक्षी है।

वह मानते हैं कि ''तुर्क, पठान और मुगलों तथा उनसे पूर्व यूनानियों, ईरानियों, शकों, कुषाणों, गुर्जरों, अहीरों, जाटों और हूणों से विपरीत रूप में, अंग्रेज यहां बसने नहीं आये थे। वे यहां कमाने और शोषण करने आये थे।'' ''उन्होंने देश पर कब्जा किया, इसे चूसा और दुहा और अपनी सारी अवैध कमाई समुद्र पार ढो ले गये।'' इतने पर भी—उनका उद्देश्य भले ही यह न रहा हो—उनके सम्पर्क के भी लाभ हुए। ''अंग्रेजी के माध्यम से हमने योरप के तमाम साहित्यों का अध्ययन किया—उनके गेटे, शिलर, लेसिंग और हर्डर, रूसो और वाल्तेयर, होलबाख और हेलवेशियस, हाइने और ह्यूगो, गोगोल और पुश्किन, मार्क्स और एंगेल्स, तुर्गनेव और तोल्सतोय, लेनिन और बुखारिन, गोर्की और शोलोखोव, फास्ट और फ्रास्ट'' से सम्पर्क हासिल किया।

यह सही है कि विश्व संस्कृति को भारत का अपना योगदान अपार रहा है। शांति और सार्वभौम कल्याण के ध्येय में उसके अतीत तथा वर्तमान प्रयत्न भीमकाय रहे हैं। परन्तु एक समय ऐसा भी आ गया था जब तरक्की करती हुई दुनिया से हम लगभग अजनबी बन गये

थ, यह जानबूझ कर तथा सकल्पबद्ध रूप से स्वय को मलगाव मे बदी बनाने का नतीजा था।

इसीलिए भगवत शरण जी का कहना है कि "विश्व कोपकारो के विचारो का अनुकरण करते हुए फ्रासीसी क्राति के जिस बधुत्व, स्वतत्रता और समता के सदेश का अमरीकी क्रान्ति ने जफरसन के मानव अधिकारो मे विस्तार किया, उसकी चरम अभिव्यक्ति आम मनुष्य की सोवियत क्रान्ति मे हुई और शोषित तथा दलित मानव-जाति मास्को और लेनिनग्राद मे जली उस मशाल को लेकर आगे बढी।

आज हमारे देश मे ऐसे लोग व ऐसे तत्व मौजूद है जो प्रगति, समाजवाद, मार्क्स के विचारो आदि को 'विदेशी' कह कर देश को पिछडेपन की ओर मोडने के लिए प्रयत्नशील है। व दुनिया मे नवोदित समाजवादी व सभ्य शक्तियो की धारा से भारत को अछूता रख कर इस साम्राज्यवाद के शिकजे मे आबद्ध करवाने के लिए प्रयत्नशील है। और ये तत्व तथा शक्तिया दभी राष्ट्रवाद की आड लेते है।

भगवत शरण जी की यह पुस्तक भारत के इतिहास तथा उसकी सस्कृति के स्रोतो के विवेकपूर्ण विवेचन द्वारा एक सही—राष्ट्र-हितीय—अतर्राष्ट्रीयतावाद की समझ प्रदान करती है।

इस मार्मिक पुस्तक की प्रस्तावना मे और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। परन्तु असली ज्ञान और समझ तो पुस्तक को पढने से ही मिल पायगी। मै इतना ही कह सकता हू कि भगवत शरण जी की यह पुस्तक गुटिका के रूप मे भारतीय चिन्तन परपरा की एक मूल्यवान धरोहर ही नही, वरन आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान व दिरष्टिकोण की पुष्टि करने का एक प्रबल अस्त्र और विश्वसनीय सबल है। उनके अपार स्नेह के परिणामस्वरूप इसे पाठको को प्रस्तुत करने का सौभाग्य हमे मिला, यह हमारे लिए सम्मान और गर्व की बात है।

इन्ही शब्दो के साथ यह पुस्तक भारतीय वैचारिक मथन के कर्ताओ, उठते हुए इस राष्ट्र के जागरूक पाठको तथा सघर्षशील समाज को प्रस्तुत है।

नई दिल्ली
६ जून १९७३

एच. के. व्यास

: १ :

समग्र इतिहास, समग्र संस्कृति

जब से मनुष्य ने चकमक से आग पैदा की और सयत उगलियो से वर्णपरक ध्वनिया निर्मित की, तब से वह जिज्ञासा के भाव से, जानने की अधीरता से और अधरे से प्रकाश की ओर बढने की प्रेरणा से उद्विग्न रहा है। प्रणय-कामना ने उसके साहित्य का सर्जन किया, ज्ञानपिपासा ने उसे अपने जगत् का बोध कराया। और प्राणियो से सहानुभूति ने उसे दोलायमान जीवन का वह सुख दिया जो हसता है, नाचता-गाता है, हास-परिहास मुहैया करता है। जीवन समग्र है, कम से कम उसकी सम्भावनाए समग्र है और सचमुच वे अभागे है जो इस समग्रता की समृद्धि तथा गौरव का अनुभव नही करते।

इतिहास समग्र है, अनवरत और सार्वभौमिक है, क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर है। और इसी प्रकार सस्कृति समग्र है, अनवरत और सार्वभौमिक है, क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर है। दिक्-काल मे कोई ऐसा बिन्दु नही, जहा मनुष्य खडा होकर कह सके, ''इससे परे ऐसा कुछ नही जो मुझे प्रभावित कर सके।'' परिवर्तन सस्कृति के अवयवो का निर्माता-नियामक है और स्वय परिवर्तन एक बडी सीमा तक जातीय प्रभावो का परिणाम है। इस प्रकार सस्कृति समान प्रयत्नो से उत्पन्न समान विरासत है, सयुक्त और समन्वित प्रयासो का प्रतिफलन है। खण्ड जुड कर सर्वांग बनते है और सर्वांग खण्डो के समाकलित नैरन्तर्य मे एक इकाई बन जाता है। यह नैरन्तर्य सारे भूमण्डल पर छा जाता है।

सस्कृति समस्त के लिए समस्त का योगदान है, मिश्रित समन्वित सयोग है। जल-कणो की भाति इकाइया एक-दूसरे से जुडती है और एक प्रवहमान जलराशि बनाती है। धाराए जो कभी विदेशी समझी जाती थी, उसके जल मे जा गिरती है और ऐसे खो जाती है कि

पहचानी नही जा सकती। स्थानीय की अपनी विशेषताएं होती हैं। विजातीय संस्कृति के आगमन पर स्थानीय संस्कृति की उस के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया होती है, किन्तु शीघ्र ही वह अपने को संयुक्त में लयकर शांत हो जाती है; फिर जो कुछ उसने प्राप्त किया है उसे अपनी प्रकृति के अनुरूप ढ़ाल नयी संकेंद्रित इकाई में अपनी विशेषताओं को समेकित तथा सुरक्षित बनाती है। यह प्रक्रिया एक इकाई से दूसरी इकाई में जारी रहती है और प्रत्येक परवर्ती इकाई अपनी पूर्ववर्ती इकाई से समृद्धतर हो निखर उठती है।

ऐतिहासिक व सांस्कृतिक अभियान विश्वव्यापी हैं। अभिप्राय और विचार भूखण्डों और सागरों को पार करते हुए उसी प्रकार संचरण करते हैं जैसे यान करते हैं। प्रागैतिहासिक मिस्र की छोटी सी सुदूर दुनिया अपने लिए तांबा सुमेरिया के बाजारों में खरीदती थी और मोहनजो-दड़ो की मुहरें ऊर और कीश में बिकती थीं। अरारात और तारसुस से कारवां समार्रा पार कर येरुसलम और थीबिज पहुचते थे और एन्तियोख और दमिश्क से चलने वाले कारवां घाटियों से गुजरते हुए सूसा और एकबताना पार करते, हिन्दूकुश की पर्वत शृंखलाओं तथा चोटियों को लाघते पाटलिपुत्र पहुचते, और उज्जैन में खत्म होते थे। स्पेन की मदिरा शंघाई के गोदामों में भरी होती थी और केरल की काली मिर्च के बदले विसिगोथ एलारिक ने अमर नगर रोम को जान बख्शी थी। फीनिशियनों की हुन्डी और लेन-देन प्रणाली हमारे आज के लेन-देन को निर्धारित और आश्वस्त करती है और कार्थेज, सोदोम तथा तीर में ढ़ाले सिक्के आज भी हमारी मुद्रा-व्यवस्था का रूप निर्धारित कर रहे हैं। प्राचीनतर चित्राक्षरों से उभरे सुमेरी प्रतीकाक्षर देश-काल की रगड़ से उभर कर हमारी आज की वर्णमाला के रूप में प्रस्फुटित हुए। जल-प्रलय की कहानी—वह घटना जो डा. लियोनार्ड वूली द्वारा की गई खुदाई से पता चला कि सुमेरिया में हुई थी—गिलगमेश महाकाव्य तक ही सीमित नहीं रही और शीघ्र विभिन्न रूपों में समस्त सभ्य संसार के साहित्यों का अंग बन गयी जिसमें हमारा शतपथ ब्राह्मण भी कोई अपवाद नहीं; और निप्पुर का उत्नापिश्तिम बाबुल के जिउसुद्दु, हिब्रू के हजरत नूह और भारतीय आर्यों के मनु के रूप में अवतरित हुआ। पेरिस के लूब्र संग्रहालय में प्रदर्शित हम्मुराबी की न्याय-संहिता से उस शृंखला की पहली कड़ियां स्थापित हुईं जिनको लीकुरगुस के विधानों और मनु की संहिता ने बढ़ाया और नेपोलियन की न्याय-व्यवस्था ने संपन्न

किया। दार्शमिक प्रणाली ने दुनिया की नाप-तौल का मानिकीकरण किया। सिधु घाटी के नन्दी ने मिस्रियो के एपिस बैल का रूप लिया, और बाबुल का चक्कर काटते वह निनेवे मे असूरी महलो के रक्षको के रूप मे पक्षधारी पुगव बना, अपादान के स्तम्भो पर उसकी मानव-मुखी आकृति ने दाढी उगा ली और अन्तत वह अशोक के चक्र के ऊपर आ विराजा। इस प्रकार भारतीय पुगव ने अपना यात्रा-चक्र पूरा किया। गुम्बजदार पिरामिडो और ठोस जिगुरतो से स्तूपो को अस्थि सचायक पुण्यागार और विपुल स्मारक रूप मिले। मिस्र के स्तम्भो पर खुदे पुरालख बाबुल और असूरिया के निवासियो तक पहुचे और परसीपोलिस के स्तम्भो और बहिस्तुन के स्मारको से गुजरते हुए उन्होने अशोक-कालीन विस्मयकारी स्तम्भ पैदा किये।

जब भारत ने चीनी तीर्थयात्रियो को वे अमूल्य हस्तलिखित ग्रथ दिये जिनकी चीन मे नवदीक्षितो को दिये जाने के लिए प्रतिलिपिया तैयार की जानी थी, तब एक चमत्कार घट गया। और तब बुद्ध के उपदेशो भर उन ग्रथो के प्रचार के लिए कागज के साथ ब्लाक बना कर छपाई का आविष्कार हुआ, उधर कोरिया मे टाइप बने जिनको जापान ने पूर्णता प्रदान की। कागज और छापखाने ने योरप की यात्रा की और यद्यपि अरब घुडसवारो की बाग शार्ल मार्तो ने पोत्वा के युद्ध से रोक दी, इन आविष्कारो ने बाईबिल के स्थानीय भाषानुवाद प्रस्तुत और प्रसारित करने मे सहायता की जिसकी सुधार (रिफार्मेशन) आन्दोलन के लिए गहरी आवश्यकता थी। चीनी ज्ञान, भारतीय गणित और आयुर्वेद तथा यूनानी दर्शन के अध्ययन दमिश्क और बगदाद के बैतुल-हिकमा मे सरक्षित और अनूदित होकर अरबो द्वारा योरप के मानवतावादी और ईसाईविरोधी ग्रीससम्मत 'पगन' समाजो मे पहुचाये गये। नाविको के कुतुबनुमा (कम्पास) के अद्भुत परिणाम उस समय दोहराये गये जब चीन मे बनी बारूद का उपयोग इग्लैंड के बादशाह हेनरी सप्तम् ने अपने बैरनो के किले और सत्ता तोडने के लिए किया। वह बानूब और सादा के युद्ध-क्षेत्रो मे उतनी ही निर्णय-कारी सिद्ध हुई जितनी कनवाहा मे। वास्तव मे चीन की चाय, लातिनी अमरीका की तम्बाकू, बबिलोनिया के ग्रह-चिह्न, कोन्स्टान्तीन द्वारा आविष्कृत ग्रहनामी सप्ताह का कलेण्डर सारी दुनिया मे फैले। विज्ञानो के उदय और प्रसार के साथ उनसे विचारो की उस प्रगति के चरण-चिह्न मिलते हैं जो विश्वव्यापी हो गये है। इतिहास और सस्कृति ने ऐसे पक्ष विकसित किये जिन्होने स्थानीय इकाई

तक सीमित रहना अस्वीकार किया और एक प्रकार की समग्रता धारण की।

जब खत्ती राजाओं में से एक की रानी ने मिस्र के फराऊन को युद्ध रोकने तथा शांति-सम्बंध स्थापित करने के लिए लिखा तो अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव की पहली नींव पड़ी।

नेबूखदनेज्जार के पौत्र बेलशेज्जार के महानाश की घोषणा करने वाला वाक्य, **मेने मेने तेकेल उफारसिन** (तुम्हें तराजू में तोला जा चुका है और तुम्हारे अन्दर कमी पायी गयी है), मात्र शब्द तक सीमित नहीं रहा, उसने आसन्न विनाश का सार्वभौमिक स्वरूप ग्रहण कर लिया। आज का साहित्यालोचन अरस्तू की सौगंधें खाता है और एगामेमनन तथा क्लीतेम्नेस्त्रा के बच्चे एलेक्त्रा से सम्बन्धित कथातत्व, जिसको कभी इस्कीलस् और सोफोक्लीज ने सर्जना की थी, उसे मंचस्थ किया था, आज अमरीकी और फ्रांसीसी रंगमंच के लिए वह उतना ही गौरवशाली है, कारण कि सार्त्र जैसे सर्जक भी उसका सहारा ले रहे हैं। हमारी **अकादमियां** एथेन्स की अकादमियों के नमूने पर बन रही हैं। अमरीका के नगरों का नामकरण यूनानी नगरों के आधार पर होता है और वाशिंगटन में अमरीकी संसद के स्थापत्य में रोमनों के फोरम का स्थापत्य दोहराया जाता है। आधुनिक दुनिया के अनेक भवन पार्थेनन की अनुकृति में खड़े किये गये हैं जिनके मुख्य द्वार की त्रिकोणात्मक रचना पर मीरन, फीदियस् और प्रोक्सीतीलिज की अनुकृति की छाप है। ओलम्पिक खेल फिर आज विश्व क्रीडा के संगठन बन गये हैं। समय की दीर्घाओं में थुकिदीदिज, हेरोदोतस्, बेरोसस्, तासितस्, लिवी और प्लिनी से लगा कर गिबन, तुरबो, स्पेंगलर, ट्रेवेलियन और टायनबी तक इतिहासकार पंक्तिबद्ध हैं। वे यह सिद्ध करते हैं कि इतिहास क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर रूप में किस तरह निर्मित होता है, विघटित होता है और पुनः निर्मित होता है। वास्तव में वे बतलाते हैं कि इतिहास अखंड है और उसको अखंड रूप में ही समझा जाना चाहिए।

भारतीय वेतन-भोगी सिपाही मेरेथन में लड़ते हैं, अरबेला और ग्वातेमाला में दारा तृतीय के साथ पराजय के भागीदार बनते हैं तथा शक हमलावरों की खोज में कैस्पियन सागर के दलदलों को साफ करते हैं। बोगाज कोइ के शिखरों पर खत्ती और मितन्नी भारतीय देवी-देवताओं की सौगंधें खाते हैं ! हन्नीबल जिब्राल्टर का जल डमरूमध्य पार करता है और अपने हाथियों पर आल्प्स के शिखर लांघ जाता

है फिर जामा मे पराजित हो समुद्र पार पीछा किये जाने पर विप पान द्वारा यूनान के एक छोटे से नगर मे मौत का शिकार हो जाता है, उधर रोम का शासक सीजर ब्रिटेनवासियो पर शासन करता है, पेरिस नगर की नीव डालता है। चीन के सीमावर्ती क्षेत्रो मे पानी नही बरसता, चरागाह सूख जाते है। परेशानहाल हूण तब पश्चिम की ओर चल पडते है और कान-सू के यूएह-ची कबीले उखड जाते है, सिर पर पैर रख भागने के लिए मजबूर हो जाते है। वे वू-सुन और इको का तख्ता पलट देते है और इक आमू दरिया की घाटी से बाख्त्री के यूनानियो को उखाड फेकते है। अत्तिला तलवार और अग लेकर दानूब के किनारे-किनारे बढता है, अपने कबीले के नाम पर हगरी का नामकरण करता है, रोम पर कब्जा कर लेता है और लूट के साथ नारवे को खाडियो मे जा धमकता है। हूणो के तातारी वशज, मगोल, सारे एशिया को अपने पैरो तले रौद देते है, मास्को मे मस्जिद खडी करते है और पवित्र रोमन सम्राट् को वियना मे स्वय उसके महलो मे कैद कर देते है। इधर चगेज सिधु नद के पार ख्वारिज्म के सुलतान को खदेड देता है और यिल्दिज तथा कुबाचा को इतिहास स मिटा देता है तो उधर उसके बटे बलग्रड के सामने ईसाई राजाओ के महासघ को कुचल देते है। इतिहास भला स्थानीय कैसे रह सकता है? राष्ट्रीय रूप मे उसका अध्ययन कैसे किया जा सकता है?

इतिहास उसी तरह राष्ट्रीय नही हो सकता जैसे रसायनशास्त्र और गणित राष्ट्रीय नही हो सकते। सचार साधनो ने राष्ट्रो और जनगण तथा उनकी सस्कृतियो, उनकी जीवन प्रणालियो और भावनाओ मे एक अन्तर्भूत एकात्मकता पैदा कर दी है। राष्ट्र अपनी सकुचित सीमाए तोड रहे है और उन समान आधारो को खोज रहे है जिनसे उनकी नीव बनी है। राजवशो की भूमिका अब इतिहासकार के निष्कर्षो को नियन्त्रित नही करती और राष्ट्रीय दृष्टिकोण, राष्ट्र का जातीय गौरव जैसी बात अब शायद ही उसकी कार्यप्रणाली को प्रभावित करती है। क्योकि राजवश गायब हो चुके है और राष्ट्रो ने अब एक भिन्न एकात्म क्षितिज, "अन्तर्राष्ट्र" का क्षितिज, खोजना प्रारम्भ कर दिया है। प्राप्य सामग्री लेकर काम करना अब इतिहासकार के लिए कठिन हो गया है क्योकि गहराई मे जाने पर उसको इस उदात्ततर रहस्य का सामना करना पडता है कि अन्तर्राष्ट्रवाद की इकाई राष्ट्र नही, एक "अन्तर्राष्ट्र" विचार है, चाहे वह कितने ही आणविक या सूक्ष्म रूप मे क्यो न दिखायी देता हो। जब राष्ट्र इकाई माना

जाता है तब वह मात्र गुणनफलांक रह जाता है, मात्र एक समुच्चय, राष्ट्रों का एक समूह मात्र। उसकी कुल जमा प्रक्रिया का हिसाब १+१+१+१... की तरह का होता है जिसमें अनिश्चित, अनेक और विभिन्न स्थितियों का योगफल सदा एक-दूसरे के विरुद्ध क्रियाशील होता चला जाता है, जब कि अन्तर्राष्ट्रीय इकाई १×१×१×१...की तरह चलती है जो कुल मिला कर सदा एक बनी रहती है, अनन्य रूप से एकात्मक सर्वांग।

इतिहासकार ने जो नये तथ्य खोजे हैं, उन पर उसको काम करना है—जनता सम्बधी सामग्री, सांस्कृतिक निधि, आम आदमी की रचनात्मक और अनुकूलक गतिविधियां, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया, जिनसे इतिहास बनता है।

कार्लाइल का नायक बहुत पहले मर चुका है, या कुछ नहीं तो एक इशारा मात्र रह गया है और वह एक ऐसे शिखर पर बैठा दिया गया है जो नीचे के, मगर इतिहास के बुनियादी तत्वों पर स्थित है। उसकी एवरेस्ट के शिखर से तुलना की जा सकती है जो नीचे बादलों को निहारता है, मगर जो स्वयं उन कणों से निर्मित है जिनके सघात से उसका ठोस आधार बना है। आखों से शिखर दिखायी देता है, मगर इतिहासकार को नीचे आधार-भूमि पर काम करना है और संघात कणों का विश्लेषण करना है।

भावी इतिहासकार के लिए राष्ट्रों की, दिक्-काल की, सीमाए टूटेगी और इतिहास समग्र रूप लेगा, उसी तरह जैसे विज्ञान समग्र है, सस्कृति समग्र है, इतिहास और कलाए समग्र हैं। वह समस्त मानवता के इतिहास को एक अखण्ड कृति के रूप मे देखेगा और अगर वह किसी एक खण्ड पर या खण्डों पर विशेष अधिकार प्राप्त करना चाहेगा तो वह ऐसा कार्यगत सुविधावश ही करेगा—इसका सदा ध्यान रखते हुए कि खण्ड समग्र का अश है, जैसे ''सेल'' जीव का अग है।

भावी इतिहासकार न सिर्फ सिकदर और हन्निबाल के रक्तरजित विजयाभियानों की कथा कहेगा—वास्तव मे वह आक्रमणकारी दुस्साहसिकता का गौण गौरव होगा—बल्कि वह उस के अतिरिक्त कम जाने-माने तथ्य उजागर करेगा। वह स्पष्ट करेगा कि उदात्त अशोक ने सिकदर के खूनी हमले के बदले उसके साम्राज्य के पांच यूनानी शासकों के राज्य-क्षेत्र में औषधियों के उपयोगी पौधे लगवाये थे और सत्ता का मानवीयकरण कर दिया था, तलवार और आग के बदले जीवनदायी उपकरणों की प्रतिष्ठा की थी। वह प्रकट करेगा कि हन्निबाल के

अभियान किस प्रकार यहूदियो के सर्कोन्द्रित अर्थतन्त्र व्यापारिक साम्राज्य के परिणाम थे जिनसे वे बाजारो तक पहुचने और उन पर शासन करने का प्रयत्न कर रहे थे, किन्तु साथ ही वे ऐसे मेधावी भी थे जिन्होने दुनिया को सिक्के और बैक के-से करिश्मे भेट किये।

हमे अपनी कार्यपद्धति बदलनी होगी। हम वस्तुओ को ऊपर से नीचे की ओर देखने के आदी है, अब हमे राजवश की ऊचाइयो से शुरू करने के बजाय सगठित जनो और भीड की ओर से शुरू करना होगा, नीचे से ऊपर देखना सीखना होगा। **ऊर्ध्वमूलमध. शाखा**—जडे आकाश पर छा जाती है और शाखाए गहराइया छूती है। क्योकि इतिहास कोई आस्था नही, विज्ञान है। आस्था अन्तर्निष्ठ प्रक्रिया है। वह उपलब्ध नही की जाती। वह पेड की भाति अन्तस्तल मे उगती है, अपना सर आसमान मे रखती है, और अपनी जडे अतीत मे नीचे की ओर फेकती है और पूर्वजो की खाद-मिट्टी के अधकारमय रस पर पनपती है।

इतिहास का अध्ययन वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया के रूप मे करना होगा। उसमे अपने मनोभावो का प्रतिफलीकरण नही किया जाना चाहिए। अब तक इतिहासकारो की प्रवृत्ति थी अतीत का आदर्श-चित्र प्रस्तुत करना। स्मृतियो को अतीत का रोमानीकरण करने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। उनको राष्ट्रीय द्रिष्टिकोण से एकात्म एक राष्ट्रीय इकाई बनाने का प्रयत्न किया जाता था। अब इतिहासकार समझ लेगा कि राष्ट्रीय सीमाए अक्सर लूटमार और आक्रमण का परिणाम होती है। अतिराष्ट्रवाद ने अपने कट्टर रूप मे युद्धो, आर्थिक प्रतियोगिताओ और घृणाओ को ही जन्म दिया है। रेखाकित राष्ट्रवाद राष्ट्रदम्भवाद बन जाता है, राष्ट्रवाद अपनी अहम्मन्यता और मानसिक जडता मात्र मे प्रभावशील होता है और समग्र सत्ता को जन्म देता है, समग्र सत्ता का ह्रास पाशविक दमन, उत्पीडन और सार्वजनिक झूठ उत्पन्न करता है। इतिहासकार को अपने को राष्ट्रीय दम्भवाद के विरुद्ध सचत रखना पडेगा, अन्यथा गौरवशाली ताजमहल किसी तुच्छ "हिन्दू सरदार का व्यक्तिगत महल" और उसका शिखर शिव का त्रिशूल मात्र बन कर रह जायेगा।

इतिहास केवल वैज्ञानिक ही हो सकता है और उसकी वैज्ञानिक विवेचना के लिए अध्ययन की समपार्श्वी शाखाओ से प्राप्त तथ्यो की विशाल निधि आज उपलब्ध है जिससे इतिहासकार के लिए एक ही साथ उसकी शक्ति, चमत्कार तथा जटिलता पैदा हो जाती है।

वनस्पति-विज्ञान, जीव-विज्ञान, भू-विज्ञान, रसायन-विज्ञान, नृवंश-विज्ञान, जाति-विज्ञान, पुरातत्व-विज्ञान, प्राक्-इतिहास और आदि-इतिहास, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, साहित्य और कलाएं, तुलनात्मक धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र, जैसी ज्ञान-शाखाएं तथा कार्बन से तिथि जानने की विधि की नयी खोज, और मानव-ज्ञान की अन्य ऐसी ही हाल की उपलब्धियां भावी इतिहासकारों के कृतित्व में स्थान प्राप्त करेंगी।

और अन्ततः इतिहासकार को इतिहास का सामाजिक रूप उपलब्ध करना है। इतिहास परिवर्तन प्रक्रिया है, परिवर्तन उत्पादन के साधनों में परिवर्तन से पैदा होता है, समाज निरन्तर बदल रहा है, क्योंकि उसका बदलना अनिवार्य है, वरना वह सड़ने की स्थिति में पहुंच जायगा कारण कि हर ह्रासोन्मुख समाज स्वयं अपनी कब्र खोदने वाला वर्ग पैदा कर लेता है। हर दूषित सभ्यता स्वयं अपने विनाशक क्रान्तिकारी पुत्र पैदा करती है और यह प्रक्रिया बराबर जारी रहती है।

: २ :

आर्य और उनके पूर्ववर्ती

महान सभ्यताओ का उदय सरिताओ के आचलो मे हुआ है सिधु और गगा, ह्वाग-हो और आमू, फरात और दजला, नील नदी की घाटियो मे। जातिया अस्थिर रही है, निरन्तर गतिमती। बियाबा से निकल हरी घाटियो मे उन्होने अपना आवास बनाया है, अनुर्वरा धरा तज उर्वरा भूमि पर अपने गावो के बल्ले गाडे है। लूट के लिए आन्दोलित हूनो कबीलो ने सभ्य और समूची बस्तिया, जला डाली है, नष्ट कर दी है। बर्बर जातियो ने सभ्यताओ को उजाड डाला है, नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है।

इतने पर भी जो कुछ बच रहा वह बदरग न था। कारण कि जिन्होने व्यवस्थित-प्रतिष्ठित सभ्यता पर उसे ध्वस्त कर दिया था, स्वय उन्होने ही उसके म्रियमाण कलवर म अपने दुर्दम तारुण्य के—बर्बर ही सही—नये प्राण फूके, अपनी हमात से उसे फिर जिला दिया, रगारग कर दिया, उसके पट म अपनी नयी डिजाइन बुन दी। म्रियमाण काया हिली, नयी स्फूर्ति से स्पन्दित हुई, नयी सभ्यता का नया सोत जागा, अनत धाराओ मे फूट बहा। नयी किरण फूटी, नया सबरा हुआ।

धरा पर कोई ऐसा देश नही जिसे भारत का-सा पकृति का आशीष उपलब्ध हो। अनगिन कबीलो ने, सभ्य भी बर्बर भी, भारत की सीमाए लाघ कर इस दश मे प्रवेश किया, यहा के सामाजिक ताने-बाने मे अपनी नयनाभिराम छबिया डाली, स्वय इसमे विलीन हो गये, उसे उसकी अदयावधि अनजानी अपनी विचित्र रगादरिया की शक्ति प्रदान की। कशीद पर कशीदे कढते गये, सामाजिक सगठन के वितान मे रगो की नयी बहार आयी।

भारतीय सस्कृति अन्तहीन विभिन्न जातीय इकाइयो के सुदीर्घ सलयन का प्रतिफलन है। उसके निर्माण मे विभिन्न जातियो का

अत्यंत विविध, व्यापक और गहन योग रहा है। उसके असंख्य रुप विभिन्न आधारों से उठे हैं, किन्तु जैसे ही उन्होंने भारत भूमि का स्पर्श किया है वैसे ही उनकी विजातीयता विलुप्त हो गयी है, उनका परायापन खो गया है।

भारत ने सृजन कार्य अनंत किये हैं। विश्व संस्कृति को जितना उसने दिया है, उतना सम्भवतः किसी अन्य अकेले राष्ट्र ने नहीं दिया। किन्तु जो कुछ उसने दिया है, उसकी अपेक्षा लिया उसने कहीं अधिक है। कारण कि देते समय भारत जहां अकेला रहा है, वहां लेते समय उसे देने वाले अनेक रहे हैं; उनका उपहार उसे प्रचुर और निरन्तर मिला है। उसकी विजय उसकी अद्भुत आत्मसात करने की प्रतिभा में संपन्न हुई है। उसकी राह जो कुछ आया उस समस्त को अपना अन्तरग बना लेना भारत की निराली उपलब्धि रही है, उसकी सृजन प्रक्रिया से भी दिव्यतर शालीनता।

प्रत्येक सांस्कृतिक सम्पर्क ने—आग्नेयी और आस्त्रिक, सुमेरी और असुरी, आर्य और ईरानी, यूनानी और शक, कुषाण और आभीरी, गुर्जरी और हूण, इस्लामी और योरपीय, प्रायः सभी ने—भारत को विचारों का एक नवीन समुच्चय प्रदान किया, उसमें ऐसी फलप्रद उत्तेजक गतिविधि पैदा की जिसने अभूतपूर्व सामाजिक शस्य संचय सुलभ कर दिया। आगे इस बात का प्रयास किया गया है कि जातियों की ऐतिहासिक भूमिका का संस्पर्श किया जाय, उनकी क्रिया-प्रक्रिया-प्रतिक्रिया का राज खोला जाय। किन्तु यह वर्णन संक्षिप्त ही होगा, सूची मात्र, क्योंकि इसका विस्तृत और पूर्ण सन्नि-वेश तो ग्रंथों की परपरा द्वारा ही संभव है।

हम नहीं जानते कि सिन्धु घाटी की द्रविड सभ्यता किस हद तक फरात और दजला नदियों के उपजाऊ भू-भाग और एलाम की ऋणी रही है, यद्यपि तेल-असमर और उसके पार्श्ववर्ती सुमेरी नगर ऊर और कीश में सिंधु सभ्यता की जो मुहरें मिली हैं उनसे सहज ही प्रमाणित है कि इन दोनों सभ्यताओं में परस्पर सम्बन्ध घनिष्ठ और स्थायी थे।

प्रथम वास्तविक और चिरस्थायी प्रभाव भारत की सभ्यता पर उन आर्य कबीलों का पड़ा जिन्होंने ईसा पूर्व की दूसरी सहस्राब्दी के मध्य इस देश को आक्रान्त किया। आक्रमण जितना नृशंस था उसका प्रतिरोध भी उतना ही प्रचंड था। इंच-इंच भूमि के लिए डट कर संघर्ष हुआ, यद्यपि विजय-श्री आक्रान्ताओं के ही हाथ लगी।

कुछ समय के लिए दोनों के बीच घृणा की ऊंची दीवारें खड़ी हो गयी और विजेताओं ने अपने शत्रुओं की "काली चमड़ी वाले", "नकचिपटे", "अदेववादी", "यज्ञविरहित", "परुष बोलने वाले", "लिंगपूजक", "दास" और "दस्यु" जैसी उपाधियों से भर्त्सना की। उनके पुरोहितों ने अपने युद्ध देवता इन्द्र के आक्रोश का आह्वान किया, उससे प्रार्थना की कि वह द्रविडों के ईंटों से निर्मित नगरों पर वज्राघात कर उन्हें नष्ट कर दे। विजेता भ्रमवश उन नगरों को लौह-दुर्ग समझ बैठे थे।

शत्रुता की यह भावना कितनी अवधि तक बनी रही, हम नहीं कह सकते। सम्भवतः यह अधिक समय तक कायम नहीं रह सकी क्योंकि शीघ्र ही आर्यों के सामाजिक ढांचे में द्रविड सभ्यता के प्रभाव से तेजी से परिवर्तन आया। "कृण्वन्त विश्वमार्यम" का, विश्व के आर्यीकरण का, उनका संकल्प, जो आज के "अल्पसंख्यकों के भारतीयकरण" के नारे से भिन्न न था, उनके सुदीर्घ और अस्थिर परिभ्रमण के दौर के समाप्त होने और अस्थायी रूप से इस देश में उनके बस जाने की सम्भावनाओं के साथ ही तिरोहित हो गया।

उन सभी प्राचीन आक्रान्ताओं की तरह, जिन्होंने अपने सुसंस्कृत शत्रुओं को पराजित किया था, जैसे दोरियनों ने क्रीत निवासियों को, फारस वालों ने असुरों (असूरियाईयों) और खल्दियों को, यूनानियों ने मिस्रियों को और रोमनों ने यूनानियों को, आर्य भी सिंधु घाटी की संस्कृति को अपनाने में विवश हुए।

अथर्ववेद के रचना काल तक चातुर्वर्ण्य व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी। चतुर्थ तथा निम्नतम वर्ण शूद्र, जिसका ईरानी दौर में कोई अस्तित्व नहीं था, आर्यों के वर्ण-क्रम में बड़े पैमाने पर द्रविडों के प्रवेश से रूप ग्रहण करने लगा था, अथवा यों कहिए कि संख्या के परिमाण में बढ़ता जा रहा था। शिव की प्रतिष्ठा में अभिवृद्धि हुई और कुछ समय उपरान्त लिंग-पूजा को भी मान्यता प्राप्त हो गयी। आर्यों की पूजा-आराधना में योग का समावेश हुआ। वृषभ तथा गौ, जो कुछ समय पूर्व तक केवल भोज्य पदार्थ थे, सम्मान और आराधना के पात्र बन गये।

सम्भव है कि वृषभ-पूजा आर्य अपने साथ पश्चिम से लाये हों, जहां मिस्रियों, सुमेरियों, और असुरों में वह सामान्यतः प्रचलित थी यद्यपि वृषभ की आराधना सिंधु घाटी में भी कुछ कम प्रचलित नहीं थी। कालान्तर में वृषभ ने, अपनी स्वतंत्र पूजा-उपासना से

स्वतंत्र, नन्दी का रूप धारण कर लिया। गो-पूजा, निस्सन्देह स्थानिक सम्पत्ति थी और शीघ्र ही आर्यों के कवियों ने गो-वध की निन्दा शुरू कर दी और गौ को अपने देवताओं की श्रेणी में बैठा दिया।

आर्य लोग लिपी-पुती झोपड़ियों में रहते थे, जिन्हें वे उन बस्तियों से सक्रमण करते समय नष्ट कर देते थे। किन्तु अब उन्होंने ईंटों के मकान बनाने की कला सीख ली और उपनिषत्काल के बृहत्‌मर्पिदेश के ग्रामीण क्षेत्रों के आस-पास तथा राजप्रासादों के इर्द-गिर्द अनेकानेक सुन्दर नगर उठ खड़े हुए। पुष्कलावती, तक्षशिला, असन्दिवन्त, हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, विराट नगर, काम्पिल्य, अहिच्छत्र, काशी, अयोध्या, मिथिला आदि इन नगरों में मुख्य थे। ये नगर सौष्ठव से परिपूर्ण थे और ऐसा प्रतीत होता था कि वे सिंधु घाटी में बसे प्राचीन नगरों के ही अंग हैं।

आर्यों के सप्तसिंधु में आने से बहुत पहले आदि भारतीय अपनी आदिम अवस्था से बहुत ऊपर उठ चुके थे और विकास के विभिन्न चरणों को पार करते हुए उन्होंने तिथियों के प्रयोग की विधि सीख ली थी। वे कृषि जीवन बिताने लग गये थे, सिंचाई के लिए बांधों का निर्माण करने लगे थे, अपने उपयोग से अतिरिक्त भाग के विक्रय के निमित्त उन्होंने बाजार केन्द्रों को खोजा और तैयार कर लिया था। उन्होंने यह ज्ञान अर्जित कर लिया था कि सपाट धरती पर केवल गोल पहिया ही दौड़ सकता है और इसी प्रक्रिया में वे सभ्यता की उस क्रांतिकारी उपलब्धि—कुम्हार के चक्के—के अन्वेषण तक भी जा पहुचे थे, जो गति और संवेग के नियम—और बाद में "डाइ-नैमिक्स"—का मूलाधार बना। यह आविष्कार नवपाषाण युग के मनुष्य ने ही कर लिया था जिसे उत्तराधिकार में द्रविड़ों ने प्राप्त किया और इन द्रविड़ों ने इसका विस्तार से उपयोग किया। वे लोग अब तक खानों में काम करना और धातुओं का इस्तेमाल भी सीख गये थे और मिश्रित धातुएं भी ढालने-गढ़ने लगे थे। अब वे उस वस्तु का संचयन करने लगे थे जिसे वे धन कहते थे, अर्थात् उपभोग से बच रहा अतिरिक्त माल, जिसके अपहरण को उन्होंने दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया था। स्त्री को वे अब पत्नी बना कर रखने लगे थे। चोरी और व्यभिचार की अनैतिक नैतिकता की स्थापना तब तक हो चुकी थी।

नवागन्तुक आर्यों के बर्बर कबीलों के पास धन नाम पर केवल घोड़े और कुत्ते थे। लक्ष्य हेतु धनुष की प्रत्यंचा साधने में ही वे दक्ष

थ। किन्तु उन्होने उस सबको आत्मसात कर लिया जो द्रविड उन्हे दे सके, अथवा जिसे आर्य स्वय अपनी विवेक-बुद्धि से ग्रहण और विकसित कर सके।

अनेक धार्मिक आस्थाओ और आचार-विचारो ने आर्यों के विचारो और सस्कारो में प्रवेश किया तथा उन्हे समृद्ध बनाया। इन सब में जो सर्वाधिक स्थायी सिद्ध हुआ वह था नयी सस्कृति का धार्मिक-साहित्यिक पक्ष। असख्य शब्दो ने वैदिक सस्कृत मे प्रवेश किया जो अनन्त व्यजनाओ, अर्थों और सूक्ष्म अर्थान्तरो को अपने साथ लाये, तथा उच्च कोटि की साहित्यिक रचनाओ को सम्भव बनाया। द्रविड भाषाओ ने वैदिक स्रोतो से बहुत कुछ ग्रहण किया कारण कि आर्य लोग काव्य-कला मे अत्यत प्रवीण थे और प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्धो के कारण पिगलशास्त्र और लयबद्धता और गीतात्मकता से पूर्ण उन्होने ऐसे बिम्बो का निर्माण किया जो आज भी उतने ही उदात्त है जितने उस समय आनन्दप्रद थे।

बाद मे दक्षिण के सतो और भक्त कवियो ने उत्तरी प्रदेशो के अन्दर तक प्रवेश किया और आधुनिक हिन्दू धर्म को उस प्रारम्भ बला मे वे सभी चीजें उसे उपलब्ध करायी, जो आज उसकी विरासत बनी हैं।

यहा हम कुछ और विस्तार से आदि-आस्त्रिको और द्रविडो के योगदान पर कुछ विस्तार से प्रकाश डालना चाहेगे। आर्यों के पहले जिन दो जातियो ने भारत मे प्रवेश किया, उनमें से एक थी आदि-आस्त्रिक, भूमध्यसागरीय काले लोगो की, जो फिलिस्तीन समीपवर्ती क्षेत्रो से यानी पूर्वी भूमध्यसागरवर्ती क्षत्रो से यहा आयी, और दूसरी थी उसी क्षेत्र की सावले रग की अधिक सभ्य भूमध्यसागरीय प्रशाखा जो भारत मे द्रविड कहलायी। इन दोनो जातियो ने आर्यों पर व्यापक प्रभाव डाला और उन्होने कुल मिलाकर जो निर्माण किया वह आज हिन्दू सस्कृति कहलाती हैं।

आर्य सस्कृति मे आदि-आस्त्रिक लोगो के योगदान मे हैं मिट्टी के बर्तन बनाने की कला, गणचिह्न की धारणा, कुदाल और हल द्वारा खेती। माना जाता है कि वे कपास की खेती करते थे और उससे व कपडे बुन लेते थे। वे चावल उगा लेते थे, गन्ने से चीनी निकाल लेते थे, साग-सब्जिया पैदा करते थे और केला, नारियल, बैंगन, कद्दू और नीबू, सेब जैसे फल पैदा करते थे और घरेलू पक्षियो तथा मोर तक को पालते थे। आदि-आस्त्रिक पहले लोग थे जिन्होने हाथी पकडा और उसको पालतू बनाया। बाण शब्द उन्होने ही आर्यों को

भेंट किया। पान खाना, हल्दी और सिन्दूर का उपयोग करना, चीजों को बीस के समूह में गिनना जैसी बातें उन्होंने नवागन्तुक लोगों के जीवन को दीं। इसी प्रकार चांद की कलाओं से दिनों को गिनना यानी **तिथियां**, और पूर्णिमा के और द्वितीया के चंद्रमा को नाम देने वाले शब्द **राका** और **कुहू**, आर्यों के शब्द भण्डार में सम्मिलित हुए।

अधबंजारा आर्यों की तुलना में द्रविडों और मोहनजो-दड़ो तथा हड़प्पा की आर्य-पूर्व संस्कृतियों की श्रेष्ठता के प्रमाणों के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। कौन कल्पना कर सकता है कि हिन्दुओं में आम तौर पर प्रयोग में आनेवाला शब्द **पूजा**, जो **ऋग्वेद** में अज्ञात था, द्रविड शब्द पू अर्थात् फूल से जन्मा था। सर्वांग रूप में इस शब्द से ऐसी रस्म का बोध होता था जिसमें मुख्य रूप से फूल, पत्ते, फल, पानी आदि अर्पित किये जाते थे। यह रस्म *भगवद्गीता* में प्रस्तावित "पत्रं पुष्पं फलं तोयम्" समर्पित करने के पुण्य-कर्म के कितने निकट थी। **ऋग्वेद** में उल्लिखित, इन्द्र के विरुद्ध लड़ने वाले असुर योद्धा और बाद के भारतीय साहित्य के नायक, कृष्ण, श्री पी. टी. श्रीनिवास आयंगर के मतानुसार, द्रविडों के एक यौवन-प्रतीक देवता थे। वानर-देव और राम-भक्त हनुमान और **ऋग्वेद** के वृषाकपि के आदि रूप, वास्तव में, द्रविड़ों के नर-वानर, अनर्मान्त थे। द्रविड़ों की अनसिली पोशाकें, धोती और दुपट्टा जैसी दोहरी पोशाकों ने आर्यों की व्यक्तिगत ऊनी पोशाकों को समृद्ध किया।

किन्तु यह विरासत केवल अंशतः ही भारतीय थी। भारत में प्रवेश करने से पूर्व भारतीय आर्यों ने अपने आक्रमणों और विध्वंसों में तनिक भी अन्तराल नहीं आने दिया। सभ्यताएं जहां कहीं भी उनके मार्ग में आयीं उन्होंने उन्हें ध्वस्त किया। क्रीत में, ओलिम्पस के पदतल में, ईलियम के श्रोजनों के बीच, तारसस के दर्रों, वृक्षहीन भूक्षेत्रों तथा ढलानों पर, कैसियन और कृष्णसागर के तटों पर, फरात और दजला के दोआब में, हिन्दूकुश की तलभूमि में और सिंधु घाटी के समृद्ध सरितवर्ती नगरों में, हर जगह महान सभ्यताएं आर्यों की एड़ियों के नीचे कुचल गयीं।

अब जब आर्य इस देश की महान नदी घाटियों में व्यवस्थित रूप से बस चुके तब उस सबका मूल्यांकन कर सकना संभव है जो उन्होंने अपने इस अभियान में संचित किया। यह निधि अत्यन्त ही समृद्ध एवं बहुरंगी है तथा इसके निर्माण पर अनेक जातियों की छाप है, मिस्री, सुमेरी, बाबुली, असुरी, खल्दी, आदि सभी की। ●

: ३ :

वेद और मध्यपूर्व

विभिन्न देशो की राह अपने कूच के दौरान आर्यो को तरह-तरह के लोगो के साथ सम्पर्क स्थापित करने का मौका मिला। 'आर्य' नाम का सबसे पहला उल्लेख एशिया माइनर और आधुनिक तुर्की क्षेत्र मे खत्ती जाति के पडोस मे रहने वाली मितन्नी जाति के हुरी कबीले के लोगो के लिए मिलता है। दक्षिणी रूस या उसके चरागाहो के मूल केन्द्र से कई धाराओ मे निकल कर वे दानूब घाटी, अरारात और ऊपरी ईराक की ओर बढे। वे पूर्व की ओर भी मुडे और कुछ समय तक कैस्पियन सागर के किनारे बसे रहे, जो उस समय सेर्यन-वायजो (अजरबैजान?) कहलाया, फिर उन्होने मार्ग मे पडने वाली अनेक सभ्यताओ का मर्दन किया। उनके एक कबीले, कस्सी, ने फरात और दजला के दुआब पर धावा बोला, बाबूल के साम्राज्य को उखाड दिया और ईसा स १८ शताब्दियो पहले वहा अपना राजवश स्थापित किया। जब कस्सियो ने बाबुल मे प्रवश किया तब भारतीय-आर्यो ने प्राकृतिक देवताओ से प्रार्थनाए और मोहक उषाओ से साक्षात्कार करते हुए हिन्दूकुश पर्वतमाला की ढलानो की ओर बढना शुरू किया।

भारत मे आ बसने तथा अपने घुमक्कड जीवन का परित्याग करने के साथ ही उन्होने अपने विलक्षण ग्रथ ऋग्वेद मे दूसरे दशो के जो साहित्यिक और सास्कृतिक शब्द शामिल कर लिये उनसे उनकी सस्कृति के समन्वित होने का सकेत मिलता है।

महान राजनीतिज्ञ तथा प्राच्य विद्यामर्मज्ञ स्वर्गीय बाल गगाधर तिलक ने रामकृष्ण भडारकर अभिनन्दन ग्रथ मे लिखे अपने एक विद्वत्तापूर्ण लेख मे ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के कुछ शब्दो को पश कर यह साबित करने का प्रयास किया था कि उनकी उत्पत्ति सुमेरी और बाबुली भाषाओ से हुई है। उस समय तक इस सदर्भ मे जो

अध्ययन किया जा सका था वह प्रारम्भिक ही था, इसलिए तिलक के उपर्युक्त प्रयास को सच मे एक साहसिक प्रयास कहा जायगा।

बहरहाल, बाद की घटनाओ ने यह सिद्ध कर दिया कि फरात और दजला के बीच के प्रदेशो में मिली वस्तुओ के अनुसंधान के जरिये ही उन शब्दो का सही अर्थ निकालना संभव है।

अब यह प्रमाणित हो गया है कि वेदो के **तुर्फरी**, **जुर्फरी**, **आलिगी**, **विलिगी**, **उरुगुला**, **तयमात**, **ताबुयम्** तथा **यह्वे** जैसे शब्द सुमेरी-बाबुली परम्पराओ के हैं। इनमें से शुरू वाले दो शब्दो को यास्क (ई. पू. छठी शताब्दी) जैसे प्राचीन शब्दकोशकार तक ने अर्थ-रहित करार दिया था। इससे प्रकट है कि वेदो मे जिन स्रोतो से वे लिये गये थे उनके चिह्न उन दिनो भी धुंधले पड़ चुके थे।

आलिगी, **विलिगी**, **उरुगुला**, **तयमात** तथा **ताबुवम्** शब्दो की उत्पत्ति का बड़ा ही सांस्कृतिक महत्व है। वे **ऋग्वेद** और **अथर्ववेद** के एक ऐसे मंत्र के शब्द हैं जिसके बारे मे कहा जाता है कि उससे सांप के काटने का प्रभाव मारा जाता था। विष के प्रभाव को समाप्त करने के लिए पुरोहित-संपेरा गेंहुअन सांप से कहता है : "**आलिगी** तुम्हारा पिता है, **विलिगी** तुम्हारी माता है। तुम **तयमात** (तिलक ने इसे तियामत का समानार्थक माना है) और **उरुगुला** की पुत्री हो।"

इन्सानी संस्कृति मे प्रत्येक जादू मंत्र क्रियाओ मे ऐसे शब्दो और पदो का प्रयोग किया जाता है जो सुनने वालो पर जोर-जोर से कहे गये अस्पष्ट ध्वनियो का प्रभाव मात्र छोड़ते हैं। यदि मूल रूप मे उनका कोई अर्थ है भी तो भी वर्तमान संदर्भ मे वे अर्थरहित हो जाते हैं हालाकि जंत्र-तंत्र वाले लोग एक प्रकार का भयावह तथा संशयात्मक वातावरण बनाने के लिए उन्हे दुहराते चले जाते हैं।

प्रकट है कि **अथर्ववेद** का ऋषि, जिसने इस मंत्र की रचना की, उन शब्दो के अर्थ से परिचित नहीं था। उसने अपने जादू टोने के मत्रो मे उन्हे जैसे-तैसे बैठा दिया। वह अच्छी तरह जानता था कि ध्वनि अथवा भाषा की दृष्टि से **आलिगी** मे पुरुषजातीय तथा **विलिगी** मे स्त्रीजातीय कोई तत्व विद्यमान नहीं है।

सुप्रसिद्ध सुमेरी नगर उर (उरुगुल, जैसे उरु-गल का सुमेरी मे अर्थ है 'महानगर') की खुदाई मे निकली एक तख्ती से सुमेरी राजाओ के एक वंश का पता चला है जिसकी चौथी और पांचवीं पीढ़ियो मे दो नाम दर्ज हैं, एलुलू और बेलुलू। वे राजे न केवल **आलिगी** और **विलिगी** के पूर्व पुरुष थे बल्कि **अलाय्** और **बलाय्** शब्दो की उत्पत्ति

भी इन्हीं के नामों से हुई थी। आज भी अरबी, फारसी तथा उत्तर भारतीय लोक भाषाओं में अलाय-बलाय (अलैया-बलैया) शब्दों का उपयोग भूत-पिशाच, अर्थहीन पदार्थ आदि के अर्थ में किया जाता है। आलिगी और विलिगी शब्दों को बेल और बिल-गी देवताओं का भ्रष्ट रूप माना जाता है जिनको बाद में गिबिल रूप में लिखा गया। सुमेरी भाषा में उरगुला शब्द का अर्थ है 'उर नगर का चिकित्सक' जो साँप के विष का विशेषज्ञ होता था।

महत्वपूर्ण बात यह है कि यह खुदी तख्ती उर में पायी गयी। उरगुला शब्द का अर्थ निकालने के लिए विद्वानों ने बड़ी माथापच्ची की है और उसे उरूक और उल में बाँट कर अर्थ निकालने का प्रयास किया। लेकिन अब यह निश्चित हो गया है कि इस शब्द का तात्पर्य उर नगर के गुल (साँप के विष का चिकित्सक) से है (बज के शब्दकोश के अनुसार)।

इसी प्रकार तयमात का—तिलक ने जिसे बाबुली सृष्टि कथा में अप्सु के तियामत साँप का समानार्थक माना है—संस्कृत की सप्तमी विभक्ति बहुवचन से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह एक बाबुली देवी का नाम है और व्यक्तिवाचक संज्ञा तथा एकवचन है। इसी प्रकार ताबुवम का अर्थ 'तोबा', 'अशुद्ध' है और पूरे इस्लामी विश्व और भारत में यह तौबा के रूप में व्यवहृत होता है।

यह्वे शब्द को, जिसका प्रयोग ऋग्वेद में यह्व, यह्वत् तथा यह्वती आदि के रूप में अग्नि, इन्द्र तथा सोम देवताओं की प्रशस्ति के लिए किया गया है, यहूदी धर्म में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। यह हिब्रू भाषा का शब्द है जिसका अर्थ समस्त ब्रह्माण्ड का निर्माता है। यह यहूदियों के उस एकमात्र ईश्वर का पर्याय है जिसके बारे में *कहा जाता है कि वह मूसा को दस समादेश देने के लिए स्वयं येहोवा* के रूप में प्रकट हुआ था। अधिक महत्व की बात यह है कि येहोवा यहूदी देवता का नाम यूनानियों द्वारा व्यवहृत है, लेकिन ऋग्वेद में येहोवा शब्द का जिस ढंग से अक्षर-विन्यास किया गया है ठीक उसी ढंग से यहूदियों के ग्रंथों में येहोवा शब्द का अक्षर-विन्यास किया गया है। वेदों में यहूदियों के इस एक सर्वव्यापी ईश्वर—जो एकेश्वरवाद का पहला प्रतीक था और जो ई. पू. तेरहवीं शताब्दी के मिस्र के राजा इखनातून और ६वीं शताब्दी ईसवी के वेदान्त के व्याख्याता शंकर का आदर्श था—के समानान्तर कई देवताओं का वर्णन मिलता है।

बाल शब्द (ऋग्वेद में जिसे वार कहा गया है) गैर-भारतीय है जो सुमेरी से लिया गया है। सुमेरी का यह 'बेल' शब्द इब्रानी में बाल रूप में प्रयुक्त हुआ जिसके माध्यम से यह भारत में प्रचलित हुआ। सुमेरी में इसका व्युत्पत्तिक अर्थ है, सर्वोच्च, शीर्षस्थ, सबसे ऊपर वाला (ईश्वर), देवाधिदेव। यह सिर के अनगिनत केशों का भी समानार्थक हुआ। ऐसे शब्दों से ये अर्थ ध्यातव्य हैं, यथा वारवनिता—अनेक पुरुषों द्वारा उपभोग की जाने वाली स्त्री; या बालखिल्य—अंगूठे के आकार के साठ हजार ऋषि जिनका जन्म ब्रह्मा के केशों से हुआ था; धान की बाली (हमेशा शीर्षस्थ), बालाई (मलाई), बालाखाना (सबसे ऊपर का कमरा), बालाई आमदनी (ऊपरी, गैरवाजिब आमदनी), बालम् या बलम् (सबसे अधिक प्रिय, उत्तम प्रिय), बाल, बालक, बाला और बालिका, आदि अन्य शब्द हैं जिनका मूलार्थ घोड़े की पूंछ था, और उठाये जाने पर जो घोड़े के शरीर का सबसे ऊंचा अंग ठहरेगा।

नामों के अंश के रूप में यह शब्द भारतीय परम्परा में बलराम, बलदेव, दधिबल, बलोदन (गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोधन के एक भाई) तथा हिब्रू की परम्परा में हस्रुबाल तथा हन्नीबाल में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत में सेना के लिए प्रयुक्त बल शब्द से भी इसका सम्बन्ध हो सकता है। यही समानता अनाज की 'बाल' जैसे शब्द के प्रयोग में भी देखी जा सकती है क्योंकि वह पौधे के शिखर पर होती है और उसका सिर के बाल से कोई सम्बन्ध नहीं है। बोगाज कोइ में एक दाढ़ीधारी और त्रिशूलधारी देवता सब देवताओं में आगे उनके जलूस का नेतृत्व करता मिलता है। एक और खत्ती देवता बैल पर सवार त्रिशूल लिये हुए है। यह प्रभंजन-देव जो पहले गाज और अनाज की बाल धारण किये मिलता है और बाद में उसके हाथ में त्रिशूल दिखायी देने लगता है, रुद्र देवता की तरह है जो आगे चल कर शिव के रूप में पुनः अवतार लेता है।

भारतीय जल प्रलय की कहानी असूरियाइयों के जरिये सुमेरी परम्परा से ली गयी है। विराट बाढ़ की यह कथा दुनिया के सभी प्राचीन लोक-विश्वासों का अंग रही है। शतपथ ब्राह्मण में इसका जिक्र बाबुली और असूरी स्रोतों का सहारा लेकर किया गया। यह ऐतिहासिक जल प्रलय करीब ३,२०० वर्ष ई. पू. बेबीलोनिया में हुई थी और इसकी पहली कहानी ई. पू. १७वीं शताब्दी के कूनीफार्म लिपि (कीलाक्षरों) में लिखित रिकार्डों में पायी जाती है। ये

आलेख उस **ब्राह्मण** के रचना काल से कम से कम एक हजार वर्ष पहले का है। इस कथा के विषय मे उल्लेखनीय बात यह है कि उस महान् भारतीय ग्रंथ मे **जल प्रलय** की कहानी के मूल स्रोत को एक तरह से स्वीकार ही किया गया है। उसमे कहा गया है कि जब मनु (नूह अथवा सुमेरी जियुसुद्दु) अपनी नाव से एक ऊंची पथरीली भूमि पर सकुशल उतरा तब जीवयुग्मो की रक्षा के लिए उसने देवता की स्तुति मे बलि चढाना चाहा। जब बलि चढाने वाले पुरोहित उसे नही मिल सके तब उसने 'असुर' पुरोहितो का आवाहन किया (**असुर ब्राह्मण इति आहूत**)। तत्कालीन आर्य विधान के अनुसार बलि चढाने के लिए १६ पुरोहितो की आवश्यकता होती थी और तो भी उस प्रयोजन के लिए मनु को कोई पुरोहित नही मिला, आश्चर्य है!

निश्चय ही, चूंकि असुरनजीरपाल तथा उसके पूर्ववर्तियो और परवर्तियो की सार्वदेशिक विजयो के जरिये असूरियाइयो (असुरो) की शूरता की चर्चा उन दिनो हर कही होती थी, और चूंकि पाणिनि तथा दूसरो ने उनके युद्ध-घोषो को प्रतिध्वनित करना आरम्भ कर दिया था, आश्चर्य की कोई बात नही जो **शतपथ ब्राह्मण** मे (जो लगभग उसी काल लिखा गया था जब कि असूरियाइयो ने पूरे पश्चिमी जगत् पर अपना आधिपत्य जमा लिया था) **जल प्रलय** की कहानी का वर्णन किया गया हो।

यह भी नोट किया जा सकता है कि उस **ब्राह्मण** की रचना लगभग उसी समय की गयी थी जब असुरबनिपाल और उसके पूर्वजो ने अपना प्राचीन पुरातत्व सग्रहालय निर्मित किया था। उस सग्रहालय मे तख्तियो पर अंकित वह **गिलगमेश** महाकाव्य भी रखा हुआ था जिस का चरितनायक उस जियुसुद्दु का वशज था जिसको **जल प्रलय** के चरितनायक ने जलप्रवाह की अपनी दुखभरी कहानी सनायी थी।

ब्रिटिश सग्रहालय मे सुरक्षित मुहर नम्बर १६३१ मे शेर पर आक्रमण करता एक वृष-मानव दिखाया गया है जिसके बैलो जैसे सीग, कान, पूछ और खुर है। इससे एनकिदु की कहानी मे से एक घटना का स्मरण होता है जिसका वर्णन अक्कादी दस्तावेजो मे मिलता है। ऐसी ही एक कहानी है गिद्ध से सम्बन्धित जिस मे गिद्ध साप से लडता है फिर एक राजा को पीठ पर लाद कर सूर्य की ओर उड जाता है। सूर्य के तेज से वह जल जाता है। जटायु का भाई सम्पाती भी सूर्य की ओर उडने का प्रयत्न करते हुए जल जाता है। गरुड भी उन विष्णु का वाहन है जो कभी देवताओ के राजा थे।

एनकिदु, गिद्ध और जल प्रलय की सुमेरी कहानियां यहां दी जा सकती हैं।

बहुत बाद की रामायण और जातक कथाओं के ऋष्यश्रृंग, जिनका उल्लेख हुएनत्सांग के विवरणों में भी मिलता है, का स्रोत एक बहुत पुरानी सुमेरी गाथा में खोजा जा सकता है। युवा ऋषि श्रृंगी, जिनका जन्म हिरणी के गर्भ से हुआ था और जिसके कारण उनके माथे पर सींग था, स्त्री के चेहरे-मोहरे और ज्ञान से पूर्णतया अपरिचित थे। उनको विष्णु के अवतार की दिव्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किन्हीं नर्तकियों ने एक आश्रम के एकान्त में मोह लिया और उन्हें वे भगा ले गयीं। यही घटना अर्द्ध-मानव और अर्द्ध-पशु एनकिदु के साथ घटी, जिसको ऋष्यश्रृंग की ही तरह एक मन्दिर की पुजारिन ने मोह कर जाल में फंसा लिया। देवताओं ने एनकिदु की सृष्टि की थी आततायी गिलगमेश का तख्ता पलटने के लिए। यह कहानी गिलगमेश महाकाव्य में वर्णित है। एनकिदु जंगल में पशुओं के साथ रहता था और उसका शरीर बालों से ढका था। "वह न तो आदमियों को जानता था, न देश को, वह शिकारी देवता की वेशभूषा धारण किये रहता था। चीतों के साथ वह पौधे खाता और पशुओं के साथ जल के किनारे रहता।" उक्त महाकाव्य में लगभग ऋष्यश्रृंग के पिता की कहानी की ही तरह यह वर्णन दिया गया है। गिलगमेश ने एक मन्दिर की दासी को एनकिदु को फंसा लाने का आदेश दे कर भेजा। युवती अपने काम में सफल हुई। उसको एनकिदु ने अपने को शहर में ले आने की छूट दे दी।

गिद्ध (गरुड) और सर्प के बीच शत्रुता सम्बन्धी पौराणिक कहानी और गिद्ध की आकाश की ओर उड़ान की कथा एक सुमेरी गाथा में पहले ही मिलती है जो यों है: एक समय एक गिद्ध और सांप ने अपनी मैत्री संधि की सौगंध खायी, लेकिन गिद्ध ने विश्वासघातपूर्वक इसका उल्लंघन करते हुए सांप के बच्चों को खा लिया। क्रोध और दुख में चीत्कार करते हुए सर्प ने बदले के लिए सूर्य देवता का आवाहन किया जो सब कुछ देखते और न्याय करते हैं और उन्होंने (सूर्यदेव ने) उसको सलाह दी कि वह एक मरे हुए बैल के ढांचे में छिप जाय और जब गिद्ध उसको खाने आये तो उसको पकड़ ले। सर्प ने ऐसा ही किया और गिद्ध के पंख नोच कर पहाड़ों के बीच एक खड्ड में फेंक दिया ताकि वह वहां तड़पता रहे। अब देवताओं से दया की पुकार करने की बारी गिद्ध की थी। सूर्य देवता ने उसकी चीख-पुकार सुनी और ये

द्रवित भी हुए, मगर उनकी देव-वृत्ति ने सर्प को एक न्यायोचित प्रतिशोध से वंचित करना ठीक नहीं समझा। किन्तु तभी संयोग से किश का एतना, जिसकी पत्नी गर्भवती थी, एक जादुई पौधा खोज रहा था (देखिए अथर्ववेद जिसमें जादुई पौधा खोद निकालने की परम्परा की चर्चा है) जिसको "जन्म बेल" कहते थे और जिससे प्रसव पीड़ा के समय स्त्री को सहायता मिलती थी, उसने सूर्यदेव से सलाह ली। देवता जानते थे कि यह पौधा सिर्फ स्वर्गलोक में मिलता है, उन्होंने उसको सलाह दी कि वह गिद्ध का उद्धार करे तथा उसकी सेवा-सुश्रूषा कर उसको स्वस्थ बनाये। उसने वैसा ही किया और कृतज्ञ गिद्ध ने उसको स्वर्गलोक ले चलने का वायदा किया। जब वे दो घंटे उड़ लिये तो गिद्ध ने कहा, "मेरे मित्र, देखिए, धरती कैसी है। उसके चारों ओर सागर को देखिए जो गहराई का आगर है। देखिए किस तरह पृथ्वी एक पर्वत भर है और सागर छोटे से पोखर जैसा रह गया है।" हर दो घंटे के अंतराल के बाद गिद्ध धरती को छोटी से और छोटी होते जाने की ओर इशारा करता, यहां तक कि वे एन के स्वर्ग में पहुंच गये और वहां उन्होंने उसके एनलिट और एनकी द्वारों से प्रवेश किया। लेकिन उनकी यात्रा अभी समाप्त नहीं हुई। उन्हें अभी देवी के सिंहासन तक पहुंचना था जो उस "जन्म बल" की स्वामिनी थी। एतना के लिए यह असह्य था। वह जोर से चीखा और सुदूर धरती पर जा गिरा।

जल प्रलय की सुप्रसिद्ध कहानी, जो दुनिया के साहित्यों का अंग है और जिसका शतपथ ब्राह्मण में वर्णन किया गया है, मूलतः उस विराट विध्वंसक बाढ़ पर आधारित है जिसने ३२०० ई० पू० में सुमेरी शहरों को ग्रस लिया था और जिसको सर्वप्रथम बाबुल की ३० ईंटों पर अंकित किया गया था—ये ईंटें अब ब्रिटिश संग्रहालय में जमा हैं। बाबुल की कहानी में महाजलप्लावन का नायक है ज्रियुसद्दु, जो बाबुल का नूह और सुमेर का उत्तपिश्तिम बना। बाबल के आलेखों में वर्णित कथा यह है शुरुप्पक कथा के नायक जियुसुद्दु का पैतृक निवास स्थान था और यह नायक ही जल-प्लावन के महानाश से बच पाने वाला अकेला व्यक्ति था। जियुसुद्दु अपने वंशजों में से एक को उस घटना का वर्णन इस प्रकार सुनाता है

मैं तुम्हारे सामने एक रहस्य खोलता हूं और तुम्हें मैं देवताओं की हिदायतें तक भी बताऊंगा। शुरुप्पक, जिसको कि तुम जानते हो और जो फरात् के किनारे बसा हुआ है, जीर्णशीर्ण हो गया था; और उसके

अन्दर के देवता, महान् देवता—उनके हृ्रदय एक जल-प्लावन लाने के लिए व्यग्र हो उठे...।

दिव्यनयन प्रभु, एनकी देवता, उनके साथ बातें करते थे, मगर उन्होंने अपने शब्द सरकंडे की झोंपड़ी से कहे, "सरकंडे की झोंपड़ी, ओ सरकंडे की झोंपड़ी! दीवार, ओ दीवार! सुन, ओ सरकंडे की झोंपड़ी! सोच-विचार, ओ दीवार!"

यह तो देवता की होशियारी की एक चाल थी, क्योंकि वे जानते थे कि झोंपड़ी में जियुसुद्दु सो रहा है और वह उनके शब्द सुन लेगा। वास्तव में वे सीधे उसको सम्बोधित करने लगे :

"ओ शुरुप्पक के पुरुष, उबरटूटू के पुत्र, झोंपड़ी गिरा दे, एक नाव बना, माल छोड़ दे, जान बचा! सम्पत्ति से घृणा कर और जीवन की रक्षा कर! जीवन के सारे बीजों को नाव में रख ले।"

जियुसुद्दु ने आदेश का पालन किया, उसने नाव बनायी, उसको लंगर में बांधा, आवश्यक सामग्री से लैस किया, फिर अपने साथी नागरिकों से कहा कि शक्तिशाली प्रभंजन-देवता, एनलिल, उससे खफा है, इसलिए उसको अब उन लोगों के बीच नहीं रहना चाहिए। उसने छलपूर्वक यह भी कहा कि जब वह चला जायगा तब देवता उन पर भारी मेहरबानी करेंगे। इस प्रकार वह अपने परिवार सहित नाव में जा बैठा और झोंपड़ी उसने गिरा दी। फिर भयंकर तूफान फट पड़ा जिसके घुमड़ते हुए काले बादलों के बीच भयभीत लोगों ने देखा कि स्वयं देवतागण मशाले हिला-डुला रहे हैं।

भाई-भाई को नहीं पहचान रहा था। आसमान से कोई आदमी नहीं दिखायी देता था। स्वयं देवता जल-प्रलय से भयभीत हो उठे। वे भाग चले। वे एन देवता के स्वर्गलोक तक गये। देवतागण कुत्तों की तरह कांप रहे थे और सिंहासन के पास सिमट आये थे। देवी इनन्ना प्रसव पीड़ा से ग्रस्त स्त्री की तरह रो रही थीं। मधुरभाषिणी देवी रो रही थीं, "दिन मिट्टी की तरह हो जाय क्योंकि मैंने देव-सभा में कुबोल बोले! मैं देव-सभा में कैसे कुवचन कह सकी और अपने लोगों के विनाश की बकवास का आदेश दे सकी! तब क्या मैं स्वयं अपने लोगों को जन्म दूं कि वे मछलियों के समूह की तरह समुद्र को भर दें?"

तूफान और बाढ़ छै दिनों और सात रातों तक घुमड़ते रहे और नाव में बहता हुआ जियुसुद्दु अपने लोगों के विनाश पर बुरी तरह रोता रहा। पर्वत का शिखर मात्र ही बाढ़ से ऊपर दिखायी देता रहा और

अन्तत नाव उसकी एक चट्टान से जा लगी और एक सप्ताह तक वहा टिकी रही। जियुसददु ने कहना जारी रखा

सातवे दिन मैंने एक कबूतर निकाला और छोड दिया। वह उड गया। वह चक्कर काटता रहा, मगर कही उसके उतरने लायक भूमि नही थी और वह लौट आया। मैंने एक अबाबील निकाली और छोड दी। अबाबील उड गयी। वह घूमती फिरी, मगर उसके उतरने लायक भूमि कही न थी और वह वापस लौट आयी। मैंने एक काली चिडिया निकाली और उसे छोड दिया। वह उड गयी और उसने पानी घटता देखा। उसने भोजन चुगा और वह नही लौटी। तब मैंने चारो हवाओ की वेदी पर बलि चढाई। पर्वत के उच्च शिखर पर पेय-पदार्थ की अजलि भेट की, मैंने सात सात घडे निकाले, मैंने गन्ने, देवदार और मिरीतल के बीज फैलाये। देवताओ ने सुगध ली, देवताओ ने मधुर गध ली। देवतागण मक्खियो की तरह बलि चढाने वाले स्वामी क गिर्द जमा हो गये। अन्तत दिव्य नारी (अर्थात् इनन्ना) ने आकर वह *महान् हार उठाया जिसको एन देवता ने उसकी इच्छानुसार बनाया* था। "ओ दवताओ, जैसे कि मैं अपने गले मे पडी हुई मणियो को नही भूलती, वैसे ही इन दिनो को याद रखूगी और इनको कभी नही भूलूगी। देवतागण बलि स्थल पर आयें, मगर एनलिन को न आने द, क्योकि उसे कोई नही सभाल सकेगा, बल्कि वह जल-प्रलय ले आयेगा और हमारे लोगो का विनाश करेगा।" अन्त मे देवता एनलिन ने आकर उस यान को देखा। एनलिन को क्रोध आया। वह पूछने लगा कि कोई भी जीव बच कैसे गया? पृथ्वी के दयालु देवता, एनकी, ही थे जो उसको समझाने-बुझाने लगे।

"ओ देवताओ के राजा, ओ शूरवीर, तुम क्यो नही हमारी सुनोगे और क्यो जल-प्रलय लाओगे? पापी को पाप का दण्ड दो, उल्लघन-कर्ता को उल्लघन का दण्ड दो! दया करो कि वह बिलकुल अलग न रह जाय, कृपा करो कि वह बिलकुल जडमति न हो जाय! बजाय इसके कि तुम जल प्रलय लाओ, एक शेर भेज दो और लोगो की सख्या कम कर दो। बजाय इसके कि तुम जल प्रलय लाओ, एक लकडबग्घा भेज दो और लोगो की सख्या कम कर दो!"

जसे जैसे एनकी क्रुद्ध देवता एनलिन को थोड से लोगो के पाप के लिए बहुत सारे लोगो को दण्डित करने की [illegible] के लिए फिडकते रहे, एनलिन का क्रोध शात होता गया [illegible]

एनलिन यान के बीच आये। [illegible]

मुझ तक को, बाहर निकाला। उन्होंने मेरी पत्नी को बाहर निकाला और उसको मेरी बगल में घुटनों के बल बैठा दिया। उन्होंने हमारे मस्तक छुए और हमारे बीच खड़े होकर हमें आशीर्वाद दिया। पहले जियुसुद्दु मनुष्य था। मगर अब जियुसुद्दु और उनकी पत्नी हमारे लिए निश्चय ही देवताओं की तरह हो गये। जियुसुद्दु और उनकी पत्नी अब दूर, नदियों के मुहानों पर रहेंगे।

जल-प्रलय की इस कहानी का समानान्तर भावानुवाद **ओल्ड टेस्टामेंट** के सृष्टि खण्ड के छठवें, सातवें और आठवें *अध्याय में भी मिलता है* और इसको यहूदी जनों ने बाबुल या सुमेरी सूत्रों से प्राप्त किया था। शतपथ ब्राह्मण का संक्षिप्त कथारूप असुरों से ग्रहण किया गया था जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। उस कथा में उल्लेख है कि मनु ने जब बलि चढ़ाने का निर्णय किया तो उस रस्म की अदायगी के लिए उन्होंने असुर पुरोहितों को बुलाया था। यह भी उल्लेखनीय है कि मनु पहले व्यक्ति थे जिनको जियुसुद्दु की तरह बाद में देवता और उनसे ही मनुष्य जाति का मूल माना गया। निश्चय ही यहां प्रलय (इस कथा में जल-प्लावन द्वारा) के बाद पुराणों में उल्लिखित गौण सृष्टि का हवाला है।

भारतीय संस्कृति तथा पश्चिमी एशियाई आलेखों में प्राप्त समानान्तर तत्वों पर फिर दृष्टि डालते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि उनकी संख्या इतनी है कि यहां सबका उल्लेख नहीं किया जा सकता। फिर भी कुछ और समानताओं का यहां हवाला दिया जा सकता है।

भारतीय देवी-देवताओं के तथा शुंग और कुषाण रेलिंगों के यक्ष-यक्षिणियों के वाहनों का समानान्तर बाबुल के देवी-देवताओं के वाहनों में पाया जाता है जो पशुओं पर खड़े या बैठे होते हैं। दिक्-काल के अन्तराल का कोई महत्व नहीं है क्योंकि पूर्वाग्रहों की भांति अवधारणाएं भी मुश्किल से मिटती हैं और अगले काल में प्रतीक बन कर जीवित रहती हैं। भारतीय पार्वती या सिंहवाहिनी महिषमर्दिनी की समानता सीरियाई देवी कादेश से की जा सकती है, जो शेर पर सवार है, या ननाइया से जिसके साथ शेर रहता है। इसी प्रकार देवी कुबेले बाद के काल की पश्चिमी देवी है जो शेर पर सवार होती है।

१८वीं सदी ई. पू. के मध्य एक आर्यजन, कस्सी, बेबिलोनिया पर शासन करते थे। सुरियस् और मारुतस् जैसे उनके नाम ऋग्वैदिक

देवताओ से मिलते-जुलते है। शायद कस्सी और मितन्नी जनो का हवाला ऋग्वेद मे कसी और मितज्ञु के नाम से दिया गया है। मितन्नी जाति के किक्कुली ने रथधावन सबधी अपनी पुस्तक मे १, ३, ५, ७, ६, सख्याओ के लिए ऐक, तेर, पज, सप्त, नव शब्द इस्तेमाल किये हैं जो स्पष्ट ही बाद की सस्कृत सख्याए एकम्, त्रीणि, पच, सप्त, नव, के ईरानी आधार थे। एन डी मिरोनोव ने अपने मूल्यवान लेख ''निकटपूर्व मे आर्य चिह्न'' मे स्वरदत, सुबन्धु, सतुअर, इन्दरुत, वीरसेन, अर्त्तदम, वीरीदस्व, नाम्धवज, सुत्तर्न, एन्दर्व और सुमितरस् जैसे नामो और शब्दो को, ऋग्वेदिक नामो या सस्कृत समानार्थक शब्दो से समानता स्थापित की है स्वरदात, सुबन्धु, सत्वर, इन्द्रोत, वीरसेन, ऋतधामन्, बृहदश्व, नम्यवाज, सुधर्न, ऐन्द्रव, सुमित्र। आर्यजन, खत्ती और मितन्नी, के युद्ध के बाद उनमे जो सधि हुई उसके प्रसिद्ध अभिलेख म भारतीय आर्य देवताओ के नाम उस क्षत्र मे प्रचलित पद्धति से यानी ध्वनि-खण्डानुसार लिखे गये हैं, जैसे मि-इत-र-अस-सि-इल (मित्र), अ-रु-न-अस-सि-इल (वरुण), इन-द-र (इन्द्र) और न-स-अत-ति-य-अन-न (नासत्यौ)। यह अभिलेख ई पू चौदहवी शताब्दी के मध्य का है और एशिया माइनर मे बोगाज कोई मे मिला था। प्रकट है कि खत्ती शब्द अरुनस्, जिसका अर्थ पहले 'समुद्र' था, मितन्नी शब्द उरुवन और वैदिक वरुण मे विकसित हुआ। ऐसा लगता है कि चूकि खत्ती मिथक (पौराणिक) कथाओ मे सूर्य का समुद्र से अरुण से, निकलना बताया गया है, उसका सम्बन्ध समुद्र से जुड गया और उनको उसी से मिलता-जुलता शब्द अरुण यानी लाल दे दिया गया, जिसका अर्थ है प्रात कालीन सूर्य।

: ४ :

असूरी और फिनीशी

शायद कम लोग जानते हैं कि जो "असुर" शब्द (जिसको "अशुर" "अस्सुर" भी लिखा जाता है) इन्द्र, वरुण और अग्नि के लिए ऋग्वेद में विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है और हमारे समय तक न केवल क्लासिकीय संस्कृत में बल्कि प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों में भी चला आया है, उसका तात्पर्य मूलतः जाति से था। बाद के साहित्य में इसको देव-विरोधी, देवताओं के विरुद्ध खड़े होने वाले महा-मानवों के लिए प्रयोग किया जाने लगा जिसका इस शब्द के मूल अर्थ से कोई सम्बंध नहीं। महान् व्याकरणाचार्य पाणिनी ने, जो असुरों के विनाश के तुरन्त बाद के युग के समकालीन थे, इस शब्द को 'असव.' शब्द से निकला माना है जिसका अर्थ था प्राण, श्वास। असुर इतिहास के असूरी थे जिन्होंने ईराक में फरात और दजला के ऊपरी भागों के पहाड़ी आवासों से निकल कर दक्षिण में बाबुल के उस साम्राज्य को कुचल दिया था जो सुमेरी अवशेषों पर खड़ा हुआ था, और अगली दो सहस्राब्दियों में असूरियों ने नील नद से ईरान की पश्चिमी सीमाओं तक अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। असुरबनिपाल ने असूरिया, बाबुल, अर्मीनिया, मीदिया, सीरिया, फिनीशिया, सुमेरिया, एलाम मिस्र पर यानी इतने बड़े साम्राज्य पर शासन किया जो सिकन्दर के पहले के ईरानी साम्राज्य के बराबर था।

असूरी अपने को "असुर" कहते थे, वे "असुर" नाम के ही सर्वोच्च देवता की पूजा करते थे और जिस राजधानी से अपने साम्राज्य पर वे शासन करते थे उसको भी उन्होंने अपने देवता और जनता का नाम, "असुर", दिया। इसका निर्माण उन्होंने अपनी दूसरी फौजी राजधानी कला के निर्माण के वर्ष, १३६५ ई. पू., से एक सहस्राब्दि पहले किया था। दूसरी राजधानी के खण्डहर अब ईराक में कलात-शेरघाट के पास प्राप्त हुए हैं। उनकी राजधानी "असुर" को ऊपरी

ईराक में दजला और उसकी सहायक नदी जोब के सगम के निकट के खण्डहरों में देखा जा सकता है। ईंटों पर क्यूनीफार्म (कीलाक्षर) में लिखी कृतियों का उनका पुस्तकालय, जिनको अधिकाशत उनके सम्राट् असुरबनिपाल ने अपनी बाद की राजधानी निनेवे में एकत्र किया था, आधुनिक नगर खोरसाबाद में खोद निकाला गया है। उन्हीं खण्डहरों में पखधारी नन्दी की प्रतिमाए मिलीं जो शिकागो के और ब्रिटिश सग्रहालय में प्रदर्शित हैं। उसी स्थान पर तीस ईंटे प्रकाश म आयी जिनमे जल-प्रलय की वह कथा अकित है जो शतपथ ब्राह्मण में दोहरायी गयी और जिसकी चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है।

असुरी या असुरों का उल्लेख हमारे साहित्य मे बार-बार मिलता है जहा धर्म-विजयी-नृप और असुर-विजयी-नृप में भेद किया जाता है। यह कहा जा सकता है कि असुरी विजता, ई पू ८वीं और ७वीं शताब्दियों म विशेषकर अपनी विध्वसात्मक लूट-पाट के कारण डरावने माने जाते थे, क्योंकि जब कभी उन्होंने किसी प्रदेश को जीता, वहा या तो उन्होंने सारे मर्दों को तलवार के घाट उतार दिया, या उनके होठों को सीकर उनको औरतों के साथ भेड-बकरियों की तरह हाका और दूर-दराज के इलाकों में जा बसाया ताकि उनके असतोष और विद्रोह से रक्षा हो सके। **बाइबिल** की पुरानी पोथी **(ओल्ड टेस्टामेंट)** के पैगम्बर नाहूम के लिए उचित ही था कि वह निनेवे और उसके शासकों की निन्दा करे। नाहूम ने कहा, "खूनी नगर पर कहर पडे। देख यहूदियों के देवता ने कहा, मैं तेरे विरुद्ध हू और मैं तुझे नगा कर दूगा, और सारे राष्ट्रों को तेरा नगापन और राज्यों को तेरी बेशर्मी दिखा दूगा। और मैं तेरे ऊपर घिनौना मल फेकूगा और तुझे अपवित्र बना दूगा तथा तुझे हास्यास्पद बना दूगा। और होगा यह कि जो लोग तुझे देखेंगे, वे तुझसे दूर भागेंगे और कहेंगे कि निनेवे वीरान पडा है, उसके लिए कौन रोयेगा? देखो, तेरे बीच औरतें हैं, तेरी भूमि के द्वार तेरे शत्रुओं के लिए खोल दिये जायेंगे। आग की लपटें तेरी दीवारों को चाट जायेंगी! . ओ असीरिया के शाहशाह, तेरे गडरिये काल की नींद सोयेंगे, तेरे सरदार धूल में मिल जायेंगे, तेरी जनता इधर-उधर पहाडों में बिखर गयी है और उनका कोई पुरसाहाल नहीं, उन्हें कोई एकत्र नहीं कर पाता। तेरे घावों का कोई इलाज नहीं, घाव घातक हैं, जो भी तेरी दुख-कथा सुनेगा वह तेरी दुर्दशा पर तालिया

बजायेगा, कारण कि कौन ऐसा है जिसने लगातार तेरी दुष्टता नहीं सही?'' इस निन्दा के कुछ ही वर्षों के अन्दर उस पैगम्बर की भविष्य-वाणी इस प्रकार सही उतरी कि निनेवे तलवार और आग का शिकार हुआ, धूल में मिला दिया गया, भुला दिया गया।

सत्ता के लिए उनकी अतृप्त प्यास, लूट के लिए लोभ और विनाश तथा क्रूरता के प्रति उनके आग्रह के कारण असूरियों को एक घृणित अपयश मिला और जिन जातियों को उन्होंने नष्ट किया, वे उन्हें यमदूत के रूप में स्मरण करती रहीं। राजा सेन्नाखेरिब ने बाबुल को जलाकर खाक में मिला दिया और उसके स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, निवासियों को ऐसा मारा कि सड़कें लाशों से पट गयीं। एलामी राजा का कटा हुआ शीष असुरबनिपाल के पास उस समय लाया गया जब वह अपने महल के बगीचे में रानी के साथ भोज कर रहा था; उसने अपने मेहमानों के बीच उस शीष को पहले एक ऊंचे बांस पर फिर निनेवे के द्वार पर लटकवा दिया जहां वह धीरे-धीरे सड़ता रहा। एलामी जनरल दनानू की जिन्दा रहते चमड़ी उतार ली गयी फिर भेड़ की तरह खून बहते-बहते वह मर जाने दिया गया। उसके भाई का गला काट दिया गया, शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये जिनको स्मृति-चिह्न के रूप में देश में बांट दिया गया। पराजितों के सरदारों के साथ विशेष सलूक किया जाता: उनके कान, नाक, हाथ और पांव काट दिये जाते, या उन्हें ऊंची मीनारों से नीचे फेंक दिया जाता, या उनका और उनके बच्चों का सिर काट दिया जाता या चमड़ी उधेड़ दी जाती या धीमी आंच में उनको भूना जाता था। असूरियाई, दुर्दमनीय असुर, अपने बंदियों को यंत्रणा देने, माता-पिता के सामने उनके बच्चों की आंखें फोड़ने, जिंदा आदमियों की चमड़ी उधेड़ देने, भट्टियों में उनको भूनने, दर्शकों के लिए, मनोरंजन के लिए उन्हें पिंजड़ों में जंजीर से बांध रखने, और फिर उन्हें मौत के घाट उतारने में आनन्द लेते। असुरबनिपाल अपने रक्त-रंजित शौर्य को यों बखानता है: ''जिन मुखियों ने विद्रोह किया, उन सबकी मैंने चमड़ी उधड़वा दी, उनकी चमड़ी से खम्बों को मढ़ा, कुछ को दीवार में चुनवा दिया, कुछ को मैंने सूली दे दी, और कुछ को खम्भों के चारों ओर सूलियों पर बेधा... जहां तक उन सरदारों और शाही अफसरों का प्रश्न था जिन्होंने विद्रोह किया था, मैंने उनके अंग-अंग कटवा डाले।'' उस आत्मप्रशंसक ने आगे लिखा। ''विरोध करने वाले मुखों की मैंने जीभें कटवा दीं, और

उनकी बोटी-बोटी कुत्तों और भेडियों को खिला दी।'' एक अन्य असुर राजा ने घोषणा की, ''मेरा युद्ध-रथ मनुष्यों और पशुओं को कुचल देता है . मैं जो स्मारक खड़ करता हू व मनुष्य की लाशों से बनाये जाते हैं जिनके सिर और हाथ-पाव पहले काट लिये जाते हैं।'

कुछ आश्चर्य नहीं जो कालिदास और अन्य साहित्यकारों ने असुर-विजयी नृपों (असूरियों के प्रकार के विजेताओं) की निन्दा की और धर्म-विजयी-नृपों (न्यायप्रिय किस्म के विजताओं) को सराहा। किन्तु भारतीयों ने असुरों की क्रूर रीति-नीति की ही निन्दा नहीं की, कई रूपों में उन्होंने उनके उदाहरण का अनुकरण भी किया। उन्होंने उनकी वीरता की छाप को उनके नाम अपने देवताओं की उपाधि की तरह इस्तेमाल कर स्वीकार किया। देवों और असुरों के लम्बे युद्ध, देवासुर संग्राम (जिसके अंतिम रक्तिम रण को ''कोलाहल'' नाम दिया गया) की कथा शायद असूरिया तथा उन आर्यों के युद्धों की स्मृति है जो काले सागर और कैस्पियन सागर के तटों पर रहते थे। रघु और समुद्रगुप्त दोनों ने शत्रुओं को उखाड फेंका (उत्खाय तरसा) और यद्यपि इस विजय के दौरान उनके द्वारा ढाये क्रूर कृत्यों का विवरण नहीं मिलता, उनकी विपरीतार्थक नीति-रीतियों का अप्रत्यक्ष हवाला उन विजताओं के रवैये से मिलता है जिन्होंने बंदी बनाये गये राजाओं को फिर सिंहासनारूढ किया। उन्होंने उनकी प्रभुसत्ता छीन ली मगर राज्य नहीं छीना (श्रिय जहार न तु मेदिनीम्)।

दण्डविधान की कुछ आसुरी पद्धतियां स्वयं भारतीयों ने भी अपना लीं। अग्नि और जल-परीक्षा, जिनको स्मृतियों में निरपराध होने का प्रमाण स्वीकृत किया गया था, और जल में डुबाने या शूल पर बिठा कर गुदा की राह सूली देने जैसी मृत्यु दण्ड प्रणालियां वास्तव में असूरी न्याय पद्धति की ही अवशेष थीं। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, शत्रुओं और अपराधियों को सूली देना असुर लोगों के लिए मृत्यु दण्ड की आम प्रणाली थी। सूली के बाद वे लाश के टुकड़ों को कुत्तों, भेड़ियों या गिद्धों के लिए फेंक देते थे। अपराधियों को सूली चढाने और अर्द्ध मृत अपराधियों को कुत्तों-गिदधों के लिए फेंक देने की पद्धति का भारतीय प्रशासकों ने भी अनुमोदन किया था। कालिदास के प्रसिद्ध नाटक अभिज्ञान शाकुन्तल में दण्डित व्यक्ति को सूली चढा कर मृत्यु दण्ड देने (शूलादवतार्य) और लाश को गिद्धों तथा कुत्तों के आगे फेंके जाने (गृद्वलिर्भविष्यसि शुनोमुख

वा द्रक्ष्यसि) का हवाला दिया गया है। मृत्यु दण्ड प्राप्त अपराधी को फूलों से सजाने का भी रिवाज था (वधार्थं सुमनसः पिनद्धम्)।

असुरी क्रूरता की एक मुजरिमाना कार्रवाई भारत में सज्जा की वस्तु बन गयी। बताया जाता है कि असुर विजेता अपने विजित शत्रुओं के होंठ और नाक छेद उनमें रस्सी डाले उन्हें जानवरों की तरह हांक कर ले जाते थे। समय बीता तो इसने भारतीय महिलाओं की नथ का रूप ले लिया। इस आभूषण से भारत में पहले कोई परिचित न था, संग्रहालयों में हजारों आभूषणों से सजी देवी मूर्तियां इस आभूषण से विरहित हैं। इसके लिए संस्कृत में कोई शब्द भी नहीं हैं। लेकिन आज यह उत्तरी भारत में हिन्दू वधू के विवाह का मूल प्रतीक बन गया है। नथ अरबों का नाकिल है, नाक की रस्सी जिससे पशु को नियंत्रित किया जाता है। बाद में वही नारी पर पुरुष के पूर्ण प्रभुत्व का बोधक बन गया। अरबों ने इसका उपयोग असुरों से सीखा और अन्य चीजों के अलावा इस सार्थक सज्जा को भी इस्लामी आक्रमणकारियों ने भारत पहुंचाया।

विभिन्न प्रकार के प्राचीन हिन्दू विवाहों में से एक का नाम था "असुर" विवाह। यह नाम इसलिए पड़ा कि इस पद्धति में वर को कुछ धन (वधू-शुल्क) वधू के पिता को देना होता था। स्त्री खरीद कर वधू प्राप्त करने की पद्धति सामान्यतः असुरों में प्रचलित थी। स्पष्ट है कि प्राचीन काल में उनकी यह पद्धति भारत में भी प्रचलित हो गयी और इसको "असुर" पद्धति कहा गया क्योंकि इसमें असुरों यानी असुरियाइयों की नकल की गयी थी।

भारतीय संस्कृति को असुरों अर्थात् असुरियाइयों का एक और महत्वपूर्ण योगदान था शिलाओं और स्तम्भों पर आलेख अंकित करना जो कला ईरान होकर भारत पहुंची—इस पर आगे और अधिक कहने का अवसर आयेगा। ऐसा लगता है कि असुरिया की पड़ोसी दुनिया में असुरियाई वास्तुकारों की मांग इतनी अधिक थी कि वह पूरी नहीं की जा सकती थी। इसका कारण था असुरियाई राजाओं द्वारा स्वयं बड़े निर्माण कार्यों का उपक्रम। वास्तु कला के संस्कृत ग्रंथों और महाभारत तथा पुराणों में असुर मय की चर्चा आचार्य और असाधारण वास्तुकार के रूप में हुई है। निस्संदेह इस प्रकार असुरी भवन-निर्माण कला की श्रेष्ठता स्वीकार की गयी है। यह सर्वविदित है कि मेहराब और गुम्बद की कला, जिसको दक्षिण से उत्तराधिकार में प्राप्त किया गया और उन्होंने विकसित किया, दुनिया को असुरियाइयों की

देन है। ई. बी. हावेल ने कुछ पुराने असूरियाई मन्दिरो के जो पुनर्निर्मित चित्र प्रस्तुत किये है, उनसे हमारे मन्दिरो के शिखरो का सम्बन्ध सीधे असूरियाइयो से स्थापित हो जाता है। इसी प्रकार असूरियाइयो ने स्तम्भ निर्माण मे जो प्रयोग किये, उनसे फारसियो और यूनानियो के यवनी (आयोनीय) खम्भो का विकास हुआ और आगे चल कर वे तक्षशिला पहुचे। कला (निम्रूद) की खुदाई मे ऐसी चमत्कारी, विशाल और असमाप्य कला-कृतिया प्राप्त हुई है कि उसका नाम ही कला का समानार्थक बन गया। कला नगर १३६५ ई पू मे स्थापित असूरियाइयो की दूसरी और मध्यवर्ती राजधानी था। उससे रक्षा प्राचीरो, प्राकारो, दुर्गो और गढो का नाम मिला जो अरबी वर्तनी द्वारा ''किला'' शब्द बन गया। मिस्र मे काहिरा की ''अलकिला'' मस्जिद और पाकिस्तान मे ''कलात'' शब्दो म और भारत मे निर्मित अनगिन ''किलो'' मे उसी मूल शब्द का सन्दर्भ मिलता है। यह उल्लेखनीय है कि सस्कृत ने उस नगर के नाम को सौन्दर्यशास्त्रीय शब्द ''कला'' के रूप मे स्वीकार किया। निस्सदेह ''कला'' बहुत पुराना शब्द है जो ऋग्वेद तक मे मिलता है, लेकिन वहा उसका अर्थ चन्द्रमा की कलाओ से ही है। और भी अधिक उल्लेख्य यह है कि इस बात का सौन्दर्यबोधक अर्थ वात्स्यायन की कृति मे मिला, उससे पहले नही। विश्व मे सौजिनिकी (युजेनिक्स) के प्रथम और महान् भारतीय लेखक वात्स्यायन का समय ईसा की तीसरी शताब्दि माना जाता है, यद्यपि उनके समय को ईसा से कई सदी पूर्व निर्धारित करने का प्रयत्न भी किया गया है। अगर ईसा से पूर्व का समय सही मान लिया जाय तो इससे कला शब्द का ईरानियो के माध्यम से पश्चिम से प्राप्त होना निर्धारित हो जायगा और वे ईरानी ही थे जिन्होने भारत मे ''कलई'' जैसे शब्द का प्रचलन किया।

असूरियाई महान् कारीगर थे और धातुओ का उपयोग करने तथा ललित कलाओ के उदाहरण उपस्थित करने मे अनुपम थे। वे धातुओ को खानो से निकालते थे और ई पू ७०० के लगभग उन्होने सेनाओ को लैस करने मे ताबे की जगह लोहे को बुनियादी धातु बना दिया था जिससे युद्धो मे, उदाहरण के लिए खत्ती (हित्ताइत) जातियो के विरुद्ध युद्ध मे, उनकी विजय अवश्यम्भावी बन गयी। लोहे से बने हथियारो से लैस उनकी श्रेष्ठ सेनाओ ने खत्तियो को इतनी बुरी तरह कुचल दिया कि ईराक मे असूरियाइयो की प्रभुता स्थापित हो जाने के बाद उनका कभी नाम भी नही सुनायी दिया।

असूरियाई धातुएं ढाल लेते थे, कांच फूक लेते थे, कपड़े रंगते थे, मिट्टी के बर्तनों पर एनेमल चढ़ा लेते थे और नहरें निकाल लेते थे। मूर्ति कोरने, उभारने, गढ़ने के काम में वे पुरानी दुनिया की तमाम जातियों को मात कर रहे थे। "असुर, कलाख और निनेवे में दौलत के जमा होने के साथ ही कलाकार और दस्तकार, राजाओं के राजमहलों के लिए, सरदारों और उनकी पत्नियों के लिए, पुजारियों और मन्दिरों के लिए, हर प्रकार के आभूषण...और महंगी लकड़ी की बारीक नक्काशीदार फर्नीचर तैयार करने लगे जिसको धातुओं से मढ़ कर मजबूत बनाया जाता था और जिसको सोना, चांदी, तांबा तथा कीमती पत्थरों से सजाया जाता था।" उनके गढ़े-उभारे कुछ नमूने *आज ब्रिटिश संग्रहालय के गौरव की और दुनिया* के लिए आश्चर्यजनक वस्तुएं हैं। पशुओं का चित्रण करने में तो वे कला के शिखर पर पहुंच गये थे। उनके ये चित्र सदा गतिमानता और क्रियाशक्ति में अनुपम होते थे। निनेवे के महल में प्राप्त *घायल सिंहिनी का और खोरसाबाद के घोड़ों के चित्र पशु-अंकन के* श्रेष्ठतम उदाहरण हैं। जानवरों की सर्वतोभद्रिका अनुकृति की सजीवता अंकित करने में असूरियाइयों का कोई सानी नहीं और महलों के द्वारों के पहरुये पंखधारी सांड़ों की मूर्तियां तो दुनिया में कोरे पशुओं के सर्वश्रेष्ठ नमूने हैं।

किन्तु असूरियाइयों की कलात्मक उपलब्धियां महलों के गिर्द ही केन्द्रित थीं। मिस्र और यूनानियों ने अपने देवताओं के शांति-दायक निवासों के रूप में महान् इमारतें बनायीं। असूरियाइयों का विचार इसके विपरीत था और वे अपने देवताओं के मन्दिरों के बजाय अपने निवासों को आदर्श बनाना बेहतर समझते थे। खोरसाबाद, निमरूद और कुयूंजिक के अवशेष, जहां असूरियाई शासकों ने अपने महल बनाये थे, ऐसे हैं जिनको देख कर मानव निवास की निर्माण-कला में चमत्कार पैदा करने के लिए और कुछ शेष नहीं रह जाता। इन्हीं कारीगर ही थे जिन्होंने सुलेमान (सोलोमन) का महल बनाया और उसको अपनी शैली में अधकोरी आकृतियों, चित्रों और मूर्तियों से सजा दिया। फर्श बनाने की उनकी विशेषता उस समय में थी जिसके कारण जहां जल था वहां थल प्रतीत होता और जहां थल था वहां जल। इसी चमत्कार का सुलेमान ने शेबा की रानी को मोह लिया था, जब वह रानी पुराणोंकथा में वर्णित इस "दुर्योधन-विमोहित राजा" के यहां आयी थी। और वही चमत्कार था जिसने असुर कला-

कार, मय ने महाभारत के युधिष्ठिर के महल में कुछ ऐसा जादू पैदा कर दिया था कि जल की जगह थल और थल की जगह जल का भ्रम होता था। पाण्डवों और कौरवों के बीच भावी युद्ध की सम्भावना उस समय जोर पकड गयी जब इस भ्रम के शिकार दुर्योधन का मजाक उडाते हुए द्रोपदी ने कहा कि ' अंधे पिता (धृतराष्ट्र) का पुत्र अंधा नहीं तो और क्या होगा ?'

साख्य दर्शन के आचार्यों में भारतीय इतिहासकार एक आसुरी नामक विद्वान को भी गिनते हैं। इस नाम से पता चलता है कि यह आचार्य या तो असुर जाति का था या उसने इस दर्शन में एक नया पथ बनाया जिससे किसी प्रकार असुरी विवचन का बोध हुआ। चूकि साख्य दर्शन प्रारम्भ में नास्तिक था, यह हो सकता है कि उसकी नास्तिक प्रवृत्ति से असुरो के प्रति आर्यो की परम्परागत शत्रुता जाग गयी हो। चूकि साख्य प्रारम्भिक दर्शनो में गिना जाता है, उक्त आचार्य के नाम के साथ असूरियो का सदर्भ जोडा जाना स्वाभाविक था।

यहा यह उल्लख कर दना अप्रासगिक न होगा कि भारत के वनो में रहने वाला एक आदिवासी कबीला अपने को असुर कहता है। हो सकता है कि उसको यह नाम उसके आर्य प्रभुओं न दिया हो।

इस तथ्य के बावजूद कि असूरियो, बाबुलियो और सुमेरियो का प्रभाव किन्ही माध्यमो से, फारसवासियो और अरबो द्वारा, भारत पहुचा, उनसे व्यापार-वाणिज्य द्वारा सीधे सजीव और समकालीन सम्पर्क भी थे। सोलोमन (सुलेमान) ने तीर और सिदोन के अपने महलो के लिए हाथीदात, बन्दर और मोर तथा हिरण की समकालीन लकडी सीधे भारत स प्राप्त की थी। उसके जहाज भारतीय समुद्र में विहरत थे। राजा सेनासरिब के एक फलक पर कपास का सबस पुराना हवाला मिलता है। उसमे कहा गया है कि "जिस वृक्ष पर ऊन उगता था, उन्होने उसकी फसल काटी और कपास का स्त बनाया।" इसको भारत से मगवाया गया था। बाबुल, सिदोन, तीर और निनेवे के बाजारो म भारत से आया माल अटा पडा रहता था और शूसा नगर पूर्व के ख्यातनामा माल का बिचौलिया केन्द्र बन गया था। भारतीय जहाज ओफिर और फारस की खाडी के बन्दरगाहो में लगर डालते और असूरी और फिनीशी व्यापारी यहा से माल असूरिया और आर्मीनिया के ऊपरी प्रदेशो म ले जाते। थल मार्ग से अनगिनत कारवा अफगानिस्तान के खैबर तथा अन्य दर्रे

पार करते और काबुल, हेरात और एकबताना पार कर निनेवे पहुंचते। ओल्मस्टेड ने अपनी पुस्तक **फारसी साम्राज्य का इतिहास** में लिखा है कि बूसासा नामक एक हिन्दू महिला किश नगर में पुलिस की देखरेख में एक सराय चलाती थी। जिप्सी लोग देश-देशान्तर में विचार फैलाने के बड़े साधन रहे हैं। भारत और फरात तथा दजला नदियों के प्रदेशों में अनेक और सहज संचार साधन रहे हैं और नीचे हम स्पष्ट करेंगे कि फिनीशियाई लोगों ने—जो विचार और माल को फैलाने तथा दुनिया को सभ्य बनाने में कारगर रहे हैं—कारवों के रास्तों को निरापद और वनों के अतिक्रमण से मुक्त रखने में कितना योगदान किया है। इसी का परिणाम था कि असूरियाइयों के आधीन, जातियों और रक्त सम्बंधी भिन्नता के बावजूद एक प्रकार की एकात्म संस्कृति विकसी।

असूरियों के समकालीन ही फिनीशी लोग थे। आज का लेबनान मोटे तौर पर उनका निवास-स्थान था। पुरानी दुनिया के वे सबसे बड़े और सफल व्यापारी थे और तीर तथा सिदोन और आगे चल कर कार्थेज जैसे उनके मुख्य नगर विक्रय के लिए माल तथा सामान से भरे रहते थे। फिनीशिया के व्यापारियों ने भूमध्यसागर के लगभग सभी नगरों को व्यापारिक रूप से अपना उपनिवेश बना लिया था। उनके जहाज हर सागर पर थिरकते थे, उनके दलाल हर बंदर में सौदे करते थे। आज की हमारी बैंक व्यवस्था चेक और हुंडी, विनिमय के सिक्के अधिकांशत: उनकी ही खोजों के परिणाम हैं। वे यहूदियों की मित्र जाति के लोग थे और आज के युग के यहूदियों की ही तरह फिनीशी भी प्राचीन संसार के धन और बाजारों को नियंत्रित करते थे।

पश्चिम एशिया में जूझते फिनीशियों का आर्य जातियों के सम्पर्क में आना अनिवार्य था। नहीं कहा जा सकता कि भारतीय आर्यों में फिनीशियों की स्मृति कभी उनके पड़ोसी होने के कारण शेष थी या फिनीशी ही उन तक व्यापार-वाणिज्य द्वारा पहुंचे। ऋग्वेद में पणियों की चर्चा है जिनको सामान्यत: फिनीशि-याई माना जाता है। भारतीय आर्य उनको महान् व्यापारी मानते थे, विशेषकर मणियों के व्यापारी के रूप में। ऋग्वेद में उनके जो हवाले हैं वे उनके लिए गौरवास्पद नहीं हैं। वे गायों तथा अन्य पशुधन की चोरी करते बताये गये हैं। आश्चर्य नहीं कि धन के लिए अंग्रेजी शब्द "मनी" फिनीशियों के "मणि" शब्द से ही निकला हो।

फारसवासियो से प्राप्त ' मीनाकारी ' शब्द भी फिनीशियो के काच या जडाऊ आभूषणो से ही निकला प्रतीत होता है क्योकि फिनीशी रग-रोगन करने की कला जानते थे। भारतीय शब्द 'हुडी , जिसका अर्थ होता है अदायगी का वायदा, भी उन्ही व्यापारियो ने प्रचलित किया। निश्चय ही, इन वायदा पत्रको से समुद्र पार रहने वाले लोगो के बीच लेन-दन सरल बन गया था।

उद्यमी फिनीशियाई मल्लाह समुद्र पार सभी जगह माल ले जाते और फारस की खाडी के बन्दरगाहो म अपना माल उतारने के अलावा वे दूर दूर से लाये हुए माल को पश्चिमी एशिया म पहुचाते थे। जहा तक नैतिकता का प्रश्न है, प्राचीन जगत् म उनकी ख्याति कोई अच्छी नही थी। वे व्यापार और विश्वासघात, वाणिज्य और लूट मे कम भद करते माने जाते थ। कहा जाता था कि व निर्बलो स चीज चुरा लते थे, जडबुद्धियो को धोखा दते थे और शप के साथ ईमानदारी बरतत थे। उनके साहसी नता सिकदर के पीछ पीछ भारत आये, प्राचीन इतिहासकारो के कथनानुसार मात्र ' व्यापार करने क लिए।"

आर्यो तथा अन्य जातियो की ही तरह, जो विश्व की जटिलताओ तथा विभिन्न मानवीय आवश्यकताओ का चिन्तन करते थे, फिनीशियो के पास भी देवी देवताओ की जमघट थी उनम प्रमख था बाल जिसके बार म पिछले पृष्ठो मे काफी लिखा जा चका है। कहा जा सकता है कि फारसवासियो क अतिरिक्त फिनीशी भी बाल ' शब्द को सस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओ मे लाने के लिए बहुत हद तक जिम्मदार माने जा सकते है (बाल का अर्थ हुआ सर्वोच्च, सिर पर बालो की तरह, पौधो पर अनाज की बालो की तरह, और इस प्रकार बाल पौधो को बढाने वाला और कृषि का पालनहार दवता बन गया)। इश्तर फिनीशियाई देवी थी जिससे कछ लोग सस्कत शब्द "स्त्री" की समानता स्थापित करते है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फिनीशियाई पश्चिमी दुनिया को सभ्य बनाने वाली बडी शक्ति सिद्ध हुए। उन्होने ही मिस्र और टूर (साइनाई) या सुमरिया और बबिलोन स, जिनके साथ उनका बराबर सम्पर्क रहता था, वर्णमाला लेकर पश्चिम मे प्रसारित की। उन्होने ही पश्चिम मे प्राचीन यूनानियो स लकर पूर्व मे शायद भारतीयो तक फैले आर्य कबीलो को सामी वर्णमाला दी।

फिनीशियो मे नरमेध भी लगभग आम बात थी। प्रतिरोधी

युद्ध में उनकी देव-वेदियां मासूम बच्चों के रक्त से रंग जाती थीं। इब्राहिम (अब्राहम) द्वारा स्वयं अपने पुत्र की बलि चढ़ाने का प्रयत्न करना, जिसके लिए उसको यहूदियों के देवता ने येहोवा के प्रति उसके प्रेम की परीक्षा लेने के लिए प्रेरित किया था, वास्तव में प्राचीन जगत् की अनन्य घटना नहीं थी। इसका ज्ञान आर्य कबीलों को भी था। एकियाई यूनानी नेता अगामेम्नन के साथ जब त्रोजनों के विरुद्ध समुद्री बेड़ा लेकर निकले और उन्हें प्रतिकूल हवाओं का सामना करना पड़ा, तब अपने यानों को सही दिशा में ले जाने के लिए अनुकूल हवाएं प्राप्त करने के लिए, उसने स्वयं अपनी पुत्री इफ़ोजेनिया की बलि चढ़ायी। वैदिक काल में नरमेध अविदित नहीं था। शायद वह उतना ही प्रचलित था जितना गोमेध अर्थात गाय की बलि चढ़ाना। यह प्रथा भारत में फिनीशियों के प्रभाव से प्रचलित हुई हो सकती है। शुनःशेप को बलि चढ़ाया जाने वाला था, लेकिन उसने रो-धो कर इस घटना को इतना करुणाजनक बना दिया और इस हद तक देवताओं का हस्तक्षेप करने के लिए आवाह्न किया कि अन्ततः वह बच गया।

अपनी आन-बान बचाने के लिए आत्मदाह का विचार शायद सबसे पहले लीदियाई लोगों में पैदा हुआ। लीदिया का क्रीसस, जिसे दुनिया में सबसे पहले सिक्का बनाने का श्रेय दिया जाता है, जब कुरुष (साइरस) से परास्त होकर हतप्रभ हुआ, तब उस शर्म को मिटाने की प्राचीन प्रथा के अनुसार उसने अपने को आग में जला देने का निश्चय किया। उसने एक भारी चिता बनवायी और वह अपनी पत्नी तथा बच्चों को और बचे हुए नागरिकों में से सबसे उदात्त युवकों को लेकर उस पर चढ़ गया और अपने नौकरों को आग लगाने का उसने आदेश दिया। किन्तु वह फारस के बादशाह की दया से बच गया। फारस का बादशाह उसे फारस ले गया और वहां अपने दरबार में उसको एक सरदार बना लिया। इसी तरह की घटना काबुल के साहिय राजा जयपाल के विषय में घटी जिसने गजनी के सुलतानों, सुबक्तगीन और महमूद, के हाथों लगातार हार खाने के बाद आत्मदाह कर लिया। राजपूत महिलाएं जब अपने पक्ष की हार होती देखती तब शत्रु के हाथ अपमानित होने के भय से तथा अपनी इज्जत बचाने के लिए बड़े उद्दात भाव और साहसपूर्वक आग में जल कर सामूहिक आत्मघात कर लेती थीं। इस काण्ड को उन्होंने "जौहर" का नाम दिया, जो न भारतीय शब्द था और न हिन्दू।

जौहर का मूल शब्द है "जोहर" जो इब्रानी भाषा से आया था और जिसका अर्थ है "ज्योति"। मोसेज द ल्योन की महान् कृति जोहर, जिससे अनेक आन्दोलनों को प्रेरणा मिली, रहस्यवादी दर्शन पर आधृत थी। राजपूतों की वीरता का सबसे ज्वलंत प्रमाण जौहर से दिया जाता है जो महिलाएं करती थीं और पद्मिनी की महानता का कारण यही था कि वह चित्तौड के किले की महिलाओं के साथ आग में कूद मरी।

यद्यपि काली की वेदी पर पुरोहितों द्वारा बकरे की बलि चढाने की प्रथा अब भारत में समाप्त हो गयी है, आज भी लोगों को स्मरण है कि किस तरह वे लम्बी छडियों से अपने को मारते हुए काली के सामने तेजी से नाचते थे जिससे उनके शरीर लहू-लुहान हो जाते थे। और जब उनका नृत्य लट्टू की गति पा जाता, तब वे बलि का सिर काट देते थे और उसका लहू चारों ओर छिडक देते थे। सिर चढाने के बाद वे स्वयं उस पवित्र भोग का भाग ग्रहण करते थे। हाल के वर्षों में इस काण्ड के पुरोहित नीची जातियों के होने लगे थे क्योंकि अब कोई ब्राह्मण इस रस्म को अदा करने के लिए तैयार नहीं होता था। यह रस्म सीरिया और फ्रीगिया दोनों ही जगह पुरोहितों के कर्मकाण्ड का अंग थी। वसन्त संपात के समय फ्रीगिया की देवी कुबेले की तरह, सीरिया की अस्तार्त का भी जो उत्सव मनाते थे, वह पागलपन की सीमा तक पहुंच जाता था। हिजडे पुरोहित मदमाते होकर नाचते और अपने ऊपर चाकुओं से वार करते थे। बलि चढाते समय फ्रीगियायी पुरोहित (और फिनीशी भी) अपने को इतना मारते-पीटते कि बलिवेदी रक्त से रंग जाती थी।

: ५ :

ईरान का प्रभाव

प्राचीनतम भारतीय-ईरानी सम्बन्ध कांस्य-पापाण
है। तब की सिन्धु सभ्यता एलाम की दूसरी
संस्कृति से उल्लेखनीय समानता प्रदर्शित करती है।
ही तरह एलाम के खण्डहरों में भी सिन्धु घाटी की म

भारतीय-योरपीय परिवार की भारतीय-ईरानी श
के ऊपरी तटवर्ती क्षेत्र में जहां उससे जोव नदी मि
से उनने अपने देवी-देवताओं तथा अंक-प्रणाली बोगाज
को दिये, या उन दो नदियों वह्वी-दातिया और
सीर, के विशाल दुआब में जिसको भारतीय
(ऐर्यनवायजो, ''आर्य-निवास'') नामक प्यारी भूमि
दीर्घकाल तक मिलजुल कर रहती रही। सम्भव है
आर्य कैस्पियन सागर के तट पर, पश्चिम और द
आधुनिक अजरबैजान क्षेत्र में पहले रहते थे।

उस समान निवास-स्थल की स्मृति भारतीय-आर्यो
बसने के बाद बहुत अर्से तक बार-बार गूंजती रही
और परसु यानी पार्थियाई और फारसियों के रूप में
शब्द इतनी अधिक संख्या में ऋग्वेद में प्रयुक्त हुए हैं
मत प्रकट करने के लिए विवश हुए कि ऋग्वेद
ईरानी नाम और शब्द आये हैं, उनकी रचना ईरान में

आगे सम्बन्ध टूट गये और दोनों प्रदेश एक-दू
तक दूर होते गये जब तक कि हखमनियों (अकीमेनि
से नहीं जोड दिया। एरियन लिखता है (इन्दिका,
कि सिन्धु और कोफेन (काबुल) के बीच के भारत
में असूरियों की, मीदियों की और अन्ततः
में फारसियों की प्रजा रहे जिनको वे खिराज दिय

युग जितने पुराने
महाजलप्लावन-पूर्व
ऊर और कीश की
हरे प्राप्त हुई हैं।
खा या तो दजला
लती है और जहां
-कोई के वासियों
रन्हा, आमू और
-ईरानी इरानवेज
कहते थे, बहुत
कि हिन्दी-ईरानी
क्षिण दोनों ओर,

के सप्तसिन्धु में
, ऋग्वेद में पृथु
। समान उपासना-
कि हिलब्रांट यह
के जिन अंशों में
ही हो चुकी थी।
सरे से उस समय
दो) ने उन्हें फिर
थम खण्ड, १-३)
ये ''प्राचीन काल
ाइरस के शासन
करते थे।'' जब

मीदियो ने असीरियाइयो को मौत के घाट उतार उनकी राजधानी निनेवे को स्वाहा कर दिया और बेलशज्जार के बाबुल का "दीवार के भाग्य-लेख" के अनुसार सर्वनाश हो गया, सिन्धु प्रदेश पर तभी हखमनियो ने धावा किया और ५४६ तथा ५२५ ई पू के बीच अनेक हमले कर उसको जीत लिया। गान्धार, पजाब और सिन्ध दारा प्रथम के साम्राज्य के अग बन गये, ये उसके नये क्षत्रप प्रदेश थे जैसा कि उसके परसीपोलिस और नक्श-ए-रुस्तम के पुरालेखो से प्रमाणित है। इन प्रदेशो से उसे ३६० भार स्वर्णधूल मिलती थी। इसकी कीमत ८८ करोड रुपये के बराबर यानी उसके विस्तृत साम्राज्य की पूरी आय का लगभग आधा भाग ठहरती है। अपने पुरालेख मे दारा ने भारत और भारतीयो के अर्थ मे पहली बार हिन्दी शब्द का प्रयोग किया था जिसको बाद मे, बहुत बाद मे, भारतीय साहित्यो ने ग्रहण किया और जिसको हिन्दी और हिन्दू के रूप मे बार-बार दोहराया।

यह साम्राज्य दक्षिणी रूस स नील के उद्गम तक और दानब से सिन्धु तक फैला था और उसकी सीमाओ के अन्दर फिनीशी, यहूदी, यूनानी, बाख्त्री, शक, ईरानी, भारतीय, सभी नागरिको के रूप मे एक-दूसरे से मिलने के लिए बाध्य थे। भाडे के भारतीय सिपाही कैस्पियन तट पर घूमते थे और जगली सक्कियो (प्राचीन शको) से भिडा करते थे और रावी-निवासी क्षुद्रक हिन्दूकुश के पार तैनात किये जाते थे। क्षयार्षा (जरक्सीज) के नेतृत्व म भारतीयो ने थर्मापिली के युद्ध मे भाग लिया और फारसियो की पराजय मे वे सहभागी बने। वे फारस के अर्ताबातिस के पुत्र फर्नाजाथ्रेस की कमान मे लड चुके थे और ईरानी सेनापति मर्दोनियस की कमान म बियोशिया पर आक्रमण मे भाग ले चुके थे। भारतीय कारवा कैस्पियन सागर के इर्द-गिर्द और समार्क के पार अलेप्पो, सिदोन और तीर शहरो तक तथा एक ओर दानूब के किनारे दूसरी ओर कोरिन्थ तक जाते थे और सीरिया के सौदागर पहाडिया-घाटिया पार करते उज्जैन तक पहुचते थे जहा वे अपना माल बेचा करते। दारा प्रथम ने पजाब और सिध पर अधिकार करने के तुरन्त बाद कार्यन्दा के एशियाई-यूनानी सकर नौचालक स्कीलाक्ष को सिन्धु मे नौका अभियान के लिए और उस नदी के मुहाने से मकरान और फारस की खाडियो की ओर जा सकने वाले जल-मार्ग को खोज करने के लिए भेजा था।

यूनानी भारतीयो के सूती वस्त्रो और बेत के लोहे की नोक वाले

लम्बे तीरों को देख कर चकित हुए थे और उसे उन्होंने सराहा था। दारा प्रथम के नेतृत्व में भारतीय योद्धाओं ने दानूब के किनारे पूर्वी योरप में और दक्षिणी रूस में लडाइयां लड़ीं जहां उन्होंने शकों के आघातों और व्याघातों का वीरता से सामना किया तथा अपने स्वामी को विजयी बनाया था। इसी प्रकार उन्होंने अरबेला और गागामेला के निर्णायक युद्ध लड़े जिनमें दारा तृतीय को सिकन्दर ने पराजित किया और अपनी रखैल तथा गणिका थेईस के हाथों पर्सिपोलिस में आग लगवा दी। वास्तव में विभिन्न सभ्यताओं के बीच सम्बन्ध विच्छेद कभी नहीं हुआ। सिन्धु घाटी, मिस्री और सुमेरी सभ्यताएं लगभग समकालीन थीं। इनमें से प्रथम का कुछ शीघ्र विलोप हो गया, लेकिन दूसरी तथा तीसरी सभ्यताएं, आगामी युगों में अपनी विरासत में, एक के बाद दूसरी कड़ियां जोड़ती चली गयीं—मिस्र-सुमेरिया, मिस्र-बेबिलोनिया, मिस्र-बेबिलोनिया-असूरिया, मिस्र-असूरिया, असूरिया-फारसी, फारस-भारत, भारत। एशिया में मिस्र से लेकर पाटलिपुत्र तक, चार हजार ई. पू. से लेकर तीसरी सदी ई. पू. तक, देश-काल की कड़ी अविच्छिन्न बनी रही। मिस्र भारत से कपड़ा खरीदता था और भारत अपनी मुहरें ऊर और कीश में बेचता था।

सिकन्दर के आक्रमण से कुछ पहले तक भारत का विजित भाग फारसियों के अधीन रहा और इस प्रकार फारसी साम्राज्य द्वारा, जो सिन्धु से दक्षिण रूस तक और पूर्वी योरप की सीमाओं से मिस्र तक फैला था, भूमध्य सागर तथा नील नदी के प्रदेशों से भारत का पूर्ण सम्पर्क रहा। स्पष्टतः फारस उस समय न केवल इतने विस्तृत साम्राज्य का स्वामी था, बल्कि मिस्र, बेबिलोनिया और असूरिया से उसको जो विरासत मिली थी, उस पूरी संस्कृति का उत्तराधिकारी था। स्वाभाविक था कि भारत पश्चिमी दुनिया से फारस की विरासत के गौरव को ग्रहण करता और उसकी राजनीति, सामाजिक चिन्तन, साहित्य तथा कलाओं से प्रभावित होता।

फारस ने पश्चिम की ओर जाने वाले व्यापार-मार्गों को विस्तृत कर भारत के व्यापार को जो बल पहुंचाया, उसके अतिरिक्त इस सम्पर्क के प्रभाव अन्यथा भी दूरगामी सिद्ध हुए। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने फारस के सम्राटों की तरह विस्तृत साम्राज्य बनाना तो सीखा ही, यह सबक भी लिया कि ऐसे साम्राज्य की शक्ति केन्द्र में सर्केन्द्रित होनी चाहिए ताकि दूर के प्रान्त शृंखला से अलग न हो पायें और

कडिया जोड पर ठीक से बैठे, क्योंकि वे सिकन्दर की कुछ ही चोटों से फारस के साम्राज्य को टूटते, गिरते और अपने ही खण्डहर में खो जाते देख चुके थे। तब भी उन्होंने अपने साम्राज्य को प्रान्तों में विभाजित किया और फारस की पद्धति के अनुरूप, ऐसे राज्यपालों तथा राज्य-प्रतिनिधियों द्वारा उनका प्रशासन चलाया जो राजघराने के ही राजकुमार होते थे।

स्पूनर ने आधुनिक पटना के पास एक गांव कुमरहार में चन्द्रगुप्त मौर्य का पाटलिपुत्र महल खोद निकाला है जिसमें ढाई फुट गोलाई वाले दस-दस फुट ऊंचे स्तम्भों की दो पांतों के ऊपर बनाया गया एक स्तम्भ-कक्ष था। पर्सिपोलिस में दारा और क्षयार्षा (जरक्सीज) के महल में भी सौ स्तम्भ थे जो दस पांतों में खड़े किये गये थ। कोई आश्चर्य नहीं जो मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त के महल की शूषा और एक-बताना के महलों से समानता बतायी थी। फाहियान का ख्याल था कि अशोक का महल दानवों ने बनाया था।

चन्द्रगुप्त ने फारस के राजदरबारों की कई रस्में अपना ली थीं। दरबार में बालों का धोया जाना एक ऐसी ही रस्म थी। स्त्राबो ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त अपने जन्म दिवस पर दरबार में बाल धुलवाता था जिसको बड़े पर्व के रूप में मनाया जाता था। यह रस्म देखने के लिए जनता निमन्त्रित होती थी। उसी प्राचीन लेखक ने प्रमाणित किया है कि भारतीय राजा ईरानी पद्धति से अपना जन्म दिवस मनाते थे और उसको एक महापर्व बना देते थे।

भारत में शाही पुरालेखों और कला के क्षेत्र में फारस का और भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा था। फारस के लिपिकों ने दायें से बायें लिखी जाने वाली अरमई लेखन-पद्धति, जिसे खरोष्टी कहते हैं, और अरमई भाषा का सूत्रपात किया था जिनका अशोक ने उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त के शिलालेखों में प्रयोग कराया। यह महत्वपूर्ण बात है कि अशोक ने लिपि और लिपिक के लिए फारसी शब्द **दिपि** और **दिपिर, लिपि** तथा **लिपिर** जैसे शब्दों का लेखन और लेखक के अर्थ में और लिखने के लिए "निपिश्त" शब्द का प्रयोग किया। अशोक के खरोष्टी शिलालेखों में प्रयुक्त **दिपि और लिपिश्त**, दोनों ही शब्द वास्तव में हखमनी पुरालेखों में प्रयुक्त हुए थे। चूंकि महान् व्याकरणकार पाणिनि भी इनको जानते और उसका प्रयोग करते थे, उनका गाधार में उस समय प्रचलन हुआ होगा जब उस क्षेत्र पर कुरुष ने अधिकार किया था। यह महत्वपूर्ण है कि इन शब्दों के पहले

प्रयोगकार पाणिनि पश्चिमी गांधार के युसुफजई क्षेत्र के थे। लिखने के लिए संस्कृत शब्द **लिपि** का उस समय तक आम प्रचलन नहीं हुआ था। उस समय तक संस्कृत **लेखनी और कलम** (जिसे अरबों ने यूनानी शब्द कलमस् के आधार पर बनाया था) जैसे शब्दों से अपरिचित थी। अशोक के काल से पहले भारत में शिलाओं और स्तम्भों पर आलेख कभी नहीं अंकित किये गये थे। बुद्ध के अवशेषों वाले पात्रों पर कुछ इन्च लम्बे आलेख, जैसा एक पिपरहवा के स्तूप में, प्राप्त हुए हैं, बहुत पुराने नहीं हैं, बुद्ध के काल के भी नहीं हैं, क्योंकि उनको अशोक काल की ब्राह्मी लिपि में अंकित किया गया है। अपनी विजयों के आलेख चट्टानों और स्तम्भों पर अंकित कराना फारस के सम्राटों में आम प्रथा थी; उससे पहले असूरिया में और उससे भी पहले मिस्र, सुमेरिया और बेबिलोनिया में थी। कुछ पिरामिडों की दीवारों पर चित्र-लिपि में आलेख अंकित हैं और लगभग ई.पू. १२वीं सदी के फराऊन रामसेज द्वितीय की विजयों को अंकित करने वाला एक स्तम्भ अब पेरिस में प्लास द ला कोंकोर्द में शाजेंलीजे नामक प्रसिद्ध मार्ग को सुशोभित कर रहा है। बेबिलोन के सम्राट हम्मुराबी का एक स्तम्भ जिसमें पूरी न्याय-संहिता अंकित है और जो १६वीं सदी ई. पू. से बाद का नहीं माना जा सकता (हो सकता है २१वीं सदी ई. पू. का हो), पेरिस के लूव्र संग्रहालय में सुरक्षित है। यकायक तीसरी सदी ई. पू. में और दारा वंश के अंतिम सम्राट् के बाद सौ वर्षों के अन्दर ही भारत में अशोक के शिलालेखों की बाढ़ आ गयी और उनमें से एक भाग खरोष्ठी में लिखा गया तथा इस तथ्य से कि महान् मौर्य सम्राट् ने अपने आलेखों का लगभग दारा के शब्दों से प्रारम्भ किया, यह प्रकट है कि उनका प्रेरणा-स्रोत फारस था। अरमई लिपि खरोष्टी को, जिनमें अशोक के उत्तरी-पश्चिमी शिलालेख लिखे गये थे, शायद कुरूष (साइरस) ने प्रचलित किया था जिसने मिस्र विजय करने के बाद वहां भी फारसी लिपि चलायी थी। यह भी नोट किया जा सकता है कि खरोष्टी का अर्थ गधे के होठ या गधों और ऊंटों की शक्ल वाली, भी लगाया गया है। अफगानिस्तान में पुराने कंधार में मिले एक ग्रीक-अरमई द्विभाषी अशोकीय शिलालेख से सिद्ध होता है कि वह सम्राट् किसी पूर्वग्रह बिना स्वदेशी और विदेशी भाषा का उपयोग करने के लिए सदा उद्यत रहता था।

पहले ही बताया जा चुका है कि अशोककालीन संस्कृत में लिपि

या लिपिक के लिए कोई शब्द न था इसलिए ये शब्द फारसी से लेने पड़े। अशोक ने जो लिपि इस्तेमाल की, वह पवित्र ब्राह्मी लिपि भी उनके काल से कोई बहुत पुरानी नही थी, यद्यपि उसका प्रचलन थोड़ा ही रही, प्रमाणित है। यह ब्राह्मी जो बाये से दाये लिखी जाती थी, हद से हद अशोक से एक सदी पहले जन्मी थी और स्वीकार किया जाना चाहिए कि इसको भारत के बाहर कही से लाकर यहा प्रचलित किया गया था तथा उसको यहा उसी प्रकार अपना लिया गया था जिस प्रकार आर्य यूनानियो ने हिब्रू लिपि को दाये से बाये लिखन के बजाय बाये से दाये लिखने का परिवर्तन कर अपनाया था। हमे ब्राह्मी के भारत मे या विदेशो मे विकास की किसी भी मंजिल का ज्ञान नही है। उसका सिन्धु घाटी की भाव-चित्र लिपि स भी कोई सम्बन्ध नही जोडा जा सकता क्योकि उसका यकायक अन्त हो गया, अनुमानत लखन से बिलकुल अनजान वैदिक आर्यो ने उस सभ्यता का नाश कर दिया। सिन्धु लिपि के विलुप्त हो जाने, यानी लगभग १५वी सदी ई पू से लेकर ब्राह्मी के उदय, यानी ५वी सदी ई पू तक एक लम्बा काल-व्यवधान है। यदि क्रम भग न हुआ होता तो सिन्धु घाटी की लिपि जीवित रहती और बाद के भारत की सभी लिपियो की माता ब्राह्मी लिपि के रूप मे विकसित होती हुई अपने अवशेष तथा विकास के कुछ चिह्न छोड जाती।

ईरान का प्रभाव कला और वास्तु पर और भी अधिक गहरा पडा। भारत मे स्तूपो का उदय काफी पुराना है पर वस्तुत उतना ही पुराना जितना बुद्ध का काल। और, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सबसे पुराना है पिपरहवा का स्तूप, जिसमे गौतम बुद्ध के अस्थि-अवशेष रखे हुए मिले है। बुद्ध के अवशेषो पर स्तूप बनाने मे एक आकस्मिकता थी, यह धारणा बिलकुल अप्रामाणिक नही मानी जा सकती और तब भी भारत मे ऐतिहासिक अन्वेषण स्थलो के खण्डहरो मे स्तूपीय ढाचे के विकास के विभिन्न चरण नही पाये जाते। यह महत्वपूर्ण है और इससे यह धारणा पुष्ट होती है कि भारतीय वास्तु-कला मे यह एक विदेशी देन थी। स्तूप दो प्रकार के है, एक तो स्मारक रूप और दूसरे अस्थि सचायक खोखले आकार के। पहले किस्म के स्तूप, ईट और पत्थरो से बने ठोस ढाचे थे जो बुद्ध या महावीर के जीवन की किसी घटना के स्मारक मे खडे किये गये थे। अस्थि सचायक स्तूप अन्दर से खोखले होते थे जहा अवशेष रखे जाते थे। स्तूप जैसे दोनो प्रकार के ढाचे पश्चिमी एशिया और मिस्र मे कब के

खड़े किये जा चुके थे। बाबुल तथा अन्य स्थानों पर एक प्रकार के मन्दिर बनाये गये थे जिनमें से कुछ सात-सात मंजिल के थे और जिनके ठोस बाहरी भाग के चारों ओर वर्तुलाकार सीढ़ियां ऊपर की ओर उठती चली गयी थीं; इनको जग्गुरत कहा जाता था। एक ऐसी ही इमारत को जो टूट-फूट कर गिर गयी थी, असूरिया की विजय के दौरान सिकन्दर ने फिर से मरम्मत करवायी थी। फरात और दजला के दोआब में इस प्रकार के कई ढांचे खण्डहर रूप में खड़े हुए हैं। जब एक आर्य कबीले, कास्सियों, ने बेबिलोनिया पर विजय प्राप्त की और अपना शासक वंश स्थापित किया (लगभग १७५५ ई. पू. में), तब उन्होंने सुमेरी सभ्यता की कई विशेषताएं ग्रहण कर लीं जिनमें से एक थी जग्गुरत की निर्माण-कला। बिना कक्षों वाले मन्दिर के लिए संस्कृत शब्द है जरुक, जो जग्गुरत का बिगड़ा हुआ रूप है। महाभारत में इसे एडुक कहा गया है। इसके विषय में जयराजभाई ने यह उद्धरण दिया है : "ह्रासोन्मुख कलियुग में लोग अपने देवताओं को छोड़ देंगे और एडुकाओं की पूजा करेंगे और पृथ्वी पर देवताओं के मन्दिरों के स्थान पर एडुका स्मारक बन जायेंगे।" उन्होंने एक पुराण का हवाला देते हुए बताया है कि एडुका तीन मंजिलों का छत वाला मन्दिर होता था जिसके शिखर पर शिव लिंग स्थापित होता था। यह याद करना महत्वपूर्ण होगा कि जग्गुरत में कोई कक्ष नहीं होता था; सिर्फ शिखर पर पुजारियों के लेटने के लिए एक शैया होती थी। जग्गुरत भी कई मंजिलों के बनाये जाते थे और उनके शिखर भाग प्राचीरों-से लगते थे। इस तरह के अट्ट पर अट्ट महान् सांची स्तूप की वेष्टनी (रेलिंग) के ऊपर देखे जा सकते हैं।

अवशेष संचय के लिए निर्मित, दूसरे प्रकार के स्तूप की तुलना और सम्बन्ध मिस्र के उन पिरामिडों से किया जा सकता है जो फराऊनों की ममियों (शवों) को सुरक्षित रखने वाले गृह थे। डा. आनन्द कुमारस्वामी ने अपनी पुस्तक भारतीय और इन्दोनेशियाई कला का इतिहास में लिखा है, और उसकी पुष्टि लौरिया में ब्लाख द्वारा की गयी खुदाई से हुई है, कि उत्तरी बिहार में लौरिया नन्दनगढ में एक मकबरे का अस्तित्व था जो ८-७वीं सदी ई. पू. के समय का है। फ्रांसीसी विद्वान जूवो दुब्रइल ने उत्तरी मलाबार में कुछ मकबरों की खोज की जिनको चट्टानों में खोद कर बनाया गया था। इन गुफा-मकबरों के मध्य फर्श से छत तक एक स्तम्भ है। दुब्रइल का मत है

कि ये मकबरे लगभग वैदिक युग के समकालिक हैं और मिस्री पिरामिडों तथा भारतीय स्तूपों के बीच की कड़ी हैं—पिरामिडों के निकटतर और स्तूपों से दूरतर। कुमारस्वामी ने भारत में चट्टानों में काट कर बनाये गये बड़े प्राचीन चैत्य कक्षों और एशिया माइनर के दक्षिणी तट के किनारे पिनारा और जेन्थस नगरों के पहाड़ों में तराश कर बनाये गये मकबरों के बीच समानता बतायी है। इस विद्वान ने कहा है कि एशिया माइनर के मकबरे भारतीय चैत्यों से बहुत पुराने हैं।

इस तरह यह स्पष्ट है कि सुमेर और बाबुल के जग्गुरत और मिस्र के पिरामिड तथा पिनारा और जेन्थस में खोद कर निकाले गये मकबरे उन स्तूपों के पूर्ववर्ती नमूने थे जो गाधार, पश्चिमी पजाब और सिन्ध में ईरानियों के प्रभुत्व के समय बने थे। यह प्रभाव अशोक के शालीन स्मारकों के रूप में सम्पन्न हुआ।

मूर्तिकला के क्षेत्र में यह प्रभाव और भी अधिक महत्वपूर्ण है। अशोक से पन्द्रह शताब्दी पहले की सुदूर सिन्धु सभ्यता की मूर्तियों और परखम यक्ष जैसे कुछ अन्य ''क्रूड'' नमूनों को छोड कर, जो अशोक से थोडे ही पहले के हैं, अशोक से पहले की कोई मूर्ति नहीं मिलती। मैं इस बहस को नये सिरे से नहीं उठा रहा हू क्योंकि वस्तुत यह बहस कभी समाप्त ही नहीं हुई, और जो भी व्यक्ति भारत के बाहर से भारतीय कला पर दृष्टि डालेगा, इस विचार को सर्वाग के एक अश के रूप में, परिपक्वता और उपलब्धि की एक घटना, फिर भी एक क्रमरेखा के छोर के रूप में स्वीकार करने के लिए विवश होगा। यहा हमें मौर्य मूर्तिकला और सामान्यत कला के प्रति कुछ तथ्यों की ओर, कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण तथ्यों पर, ध्यान देना होगा।

कला प्रयोग-प्रधान, एक व्यावहारिक प्रक्रिया है। तारतम्य उसके जीवन का प्राण है। उसकी उपलब्धियां सकेन्द्रित, अशानुअश और अनवरत साधना से प्राप्त होती हैं। देवी मिनर्वा पूर्ण विकसित रूप में कला-जगत् में अचानक जन्मा नहीं करती और मौर्य तथा सिन्धु सभ्यता घाटी के नमूनों के बीच की पन्द्रह सौ वर्षों की विच्छिन्नता से अशोककालीन कलाकार के लिए उस दिशा से प्रकाश पाना असम्भव ही था। फिर, अशोक के स्मारकों की चमत्कारी पालिश, जिससे वे धातु के बने प्रतीत होते हैं, और जिसका उन्हीं के *साथ अन्त भी हो* जाता है, परखम, पवाया और बड़ौदा में प्राप्त किस्म के थोडे

स्थानीय नमूनो से यकायक नही प्रकट हो सकती थी। इसलिए यह निष्कर्ष निकालना नितान्त तर्कसंगत है कि वह पालिश भी और स्तम्भो तथा उनके शिखरस्थ पशुओ की परिकल्पना वही से आयी जहां से अरमई लिपि, अशोकीय शिलालेखो के प्रारम्भिक अंश और उसके पितामह की दरबारी रस्मे आयी थी——यानी वह उस सत्ता की भूमि से, जिसने एक सदी से अधिक तक पंजाब मे अधिकार जमाये रखा था और जहा उसका बोलबाला रहा था, उस प्रदेश मे आयी जहां के साहित्य तथा कलाओ मे इससे पहले इसका कोई अस्तित्व नही था। इसके विपरीत कुछ अवधारणाए और नमूने, देश-काल दोनो ही दृष्टि से भारत की सीमा पर ही, यानी फारस में, और अशोक काल के डेढ़ सदी पहले के समय के अन्दर ही, मौजूद थे। जैसे अपादान का वृषभ और स्तम्भ-शीर्ष जो आज शिकागो विश्वविद्यालय के प्राच्य-विद्या सस्थान के संग्रहालय मे रखे हुए हैं, अशोककालीन मूर्तिकार के लिए तात्कालिक नमूना माने जाने चाहिए। यहां हमे कला-नमूनो के विकास की अविच्छिन्नता फिर स्मरण हो आती है। वृषभांकन कला ने लगभग एक चक्कर पूरा किया। हमे पता नही कि इसका जन्म कहां हुआ, भारत मे या मिस्र मे (जहां द्वितीय राजवंश के काकौस ने ३००० ई. पू. से पहले एपिस वृषभ की पूजा प्रारम्भ करायी थी), फिर भी अगर एपिस और ब्रह्मनी नन्दियो को एक ही समय का माना जाय तो उनकी अवधारणा बाबुल और असूरिया से फारस होते हुए वापस भारत पहुंचती दिखायी देती है। हमे उनके प्रारभ सूत्र तै करने की उतनी चिन्ता नही है जितनी अशोक के स्मारकों के तात्कालिक पूर्ववर्तियो का पता लगाने की, क्योंकि नन्दी की तरह उनका भी अविच्छिन्न सातत्य था, एक रूप के निकट दूसरे रूप के खड़े होते जाने का सिलसिला था—हम्मुराबी के स्तम्भों से असुरनजीरपाल तथा उसके असूरियाई उत्तराधिकारियो के पाषाण-स्तम्भो तथा हखमनी सम्राट् दारा तक और दारा से हमारे अशोक के सिंह-स्तम्भो तक। मौर्योत्तर काल की मूर्तियो से अशोककालीन पालिश के विलुप्त हो जाने से यह स्पष्ट है कि जिन हाथों ने अशोक-कालीन मूर्तियों को चमकाया था, हिन्दूकुश के पार उथल-पुथल की उन घटनाओ के कारण जिनसे भारतीय सीमाओ पर गडबड़ी फैली और अरक्षा पैदा हुई, वे हाथ बाद मे उपलब्ध नही रहे। भारतीय अवधारणाओ और शिल्प मे ये हाथ बाद के काल मे अपरिचित नहीं रहे क्योंकि हम उस यूनानी छैनी को जानते हैं जिसने तक्षशिला और

अन्य यूनानी बस्तियो मे बौद्ध कथाओ को पत्थर मे तराशा। भारतीय-करण की उस प्रक्रिया ने, जो सदा ही सक्रिय रही, कलात्मक परिष्कार की ईरानी प्रणाली के प्रति उदासीन बनाने मे और अधिक योग दिया।

आगामी काल पर विचार करने से पहले हम यहा कहना चाहेगे कि साची और भरहुत की स्तूपो की शुगकालीन रेलिगा की उत्कृष्टता चाहे जो रही हो, निस्सन्देह उनकी उत्कृष्टता अतुल्य है, ईटो के ठोस ढाचे के रूप मे निर्मित स्वय इन स्तूपो को मौर्य काल से कुछ सदियो से पहले शायद ही कोई जानता रहा हो। वास्तव मे व भी मृत्यु-स्मारक पिरामिडो और पवित्र मन्दिर जग्गुरतो के ही विकास-क्रम म आते है।

एक और महत्वपूर्ण शक्ति जिसस भारतीय चिन्तन और धार्मिक विचारधारा गहन रूप से प्रभावित हुई वह थी मागी नामक प्राचीन फारस के पुरोहितो का उदय। ईरान मे जरथुस्थ के उदय से पहले और अस्त के बाद भी इनका बोलबाला बना रहा। इनम से उच्च वर्ग के "विवेक शिरोमणि" मीदी सम्राटो के सलाहकार होते थे और सत्ता का उपयोग करते थ। उनके निम्नतर वर्ग के लोग नक्षत्रो क जानकार थे और भविष्यवक्ता होने का दावा करते थे। आग इन्ही दिव्य मागियो के आधार पर अग्रजी म "जादू" के लिए "मैजिक" शब्द बना। उनको बाइबिल की ईसाई पुराकथाओ मे भी महत्व मिला जिनमे बताया गया है कि नक्षत्रो ने 'विवेक शिरोमणि' मागियो को बथलहेम की ओर भजा ताकि व नवजात ईसा की आराधना करे। आज महान कलाकारो दवारा निर्मित अनगिनत कला-वस्तुए सुलभ है जिनका शीर्षक है "मागी की आराधना।" मागी या मग लोगो ने भारतीय सस्कृति मे अपनी सूर्य पूजा जोडी, मुख्यत ईसा से तुरन्त पहले और बाद की सदियो म उत्तरी-पश्चिमी भारत पर पार्थव या पह्लव राजाओ के शासन काल मे। सूर्य मूर्ति की प्रतिष्ठा के विशेष पुरोहित होने के कारण उन्हे निमन्त्रित किया गया और उनको ब्राह्मण माना गया था। ५५० ईसवी की एक नेपाली पाण्डुलिपि मे उन्हे ब्राह्मण बराबर बताया गया है और भविष्य पुराण मे कहा गया है कि जब सूर्य-पूजा की विधि के अज्ञान के कारण या एक विदेशी उपासना-विधि के प्रति अपनी उदासीनता के कारण स्थानीय ब्राह्मणो ने चन्द्रभागा (चेनाब) के तट पर निर्मित सूर्य मन्दिर के उद्घाटन मे पुरोहित बनने से इनकार कर दिया तो मग पुरोहितो को बुलाया गया

जो इस प्रदेश में ब्राह्मण बन कर बस गये और शकद्वीपीय कहलाये। वराहमिहिर ने, जिनका नाम ईरानी था और जो शायद स्वयं मग या शकद्वीपीय ब्राह्मण थे, मग लोगों को सूर्य देवता का विशेष पुजारी कहा है और सूर्य मूर्ति के लिए उदीच्य वेश निर्धारित किया है जिसका अर्थ था कि जूते घुटने तक हों, मेखला का एक सिरा नीचे तक लटका हो और धड़ एक लम्बे कुर्ते और कढ़ाईदार चोगे से ढंका हो और सिर पर ईरानी पगड़ी या तिकोनी टोपी हो, जो पह्लव, शक और कुषाण राजाओं की पोशाक हुआ करती थी। वे लोग एक सिल्क की कढ़ाईदार चादर इस्तेमाल करते थे जिसको इस्तब्रक कहा जाता था। इसका सस्सानी बादशाह इस्तेमाल करते थे और आगे चल कर यह भारतीय राजाओं की प्रिय वस्तु बन गयी। बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में इसको स्तवरक कहा है और बताया है कि इसके छोर पर मोती जड़े होते थे। अग्नि पूजक पारसी भी भारत में सस्सानी शासन काल में आ गये थे, कुछ तो अपने देश में धार्मिक झगड़ों के कारण और कुछ बाद में ईरान के अन्दर इस्लामी उत्पीड़न के कारण आये। सर जान मार्शल ने तक्षशिला में, एक अग्नि मन्दिर खोज निकाला और अरिस्तोबोलस तथा वेइ-शू (५७२ ई.) दोनों ने तक्षशिला में शिकारी चिड़ियों के सामने शवों का फेंका जाना देखा था। वराहमिहिर के जन्म से बहुत पहले तियाना के अपोलोनियस (४२ ई.) ने तक्षशिला का सूर्य मन्दिर देखा और उसका वर्णन किया था।

यद्यपि शकों ने सदियों अपने प्रशासित क्षेत्रों पर स्वतन्त्रतापूर्वक राज्य किया, फिर भी फारस के सम्राटों की अपनी आधीनता को स्मरण कर वे अपने को क्षत्रप कहते थे; क्षत्रप पह्लवी शब्द है जिसका अर्थ है फौजी या गैर-फौजी राज्यपाल। कुषाण राजा जो अपने युग की भारतीय कला के कुशल निर्माता और मूर्तिकला में भारतीय यूनानी शैली के अदम्य प्रसारक थे, अपने को शाहिशाहानुशाहि कहते थे (कनिष्क ने अपनी मुद्राओं पर शाओनानो शाओ की उपाधि का प्रयोग किया है)। समुद्रगुप्त ने इलाहाबाद के अपने स्तम्भलेख में उनके लिए जो शाहिशाहानुशाहि शब्द का प्रयोग किया है, वह मुद्राओं पर अंकित शाओनानो शाओ की ही अनुकृति है, जो दरअसल दारा के पुरालेख में प्रयुक्त मूल **क्षयाथियानाम् क्षयाथिया** का ही कुषाण रूपान्तर है। तक्षशिला के शक राजा मोग ने (७७ ई. पू.) जो अपने लिए मिथ्रिदातिज (राजाओं के महान् राजा) की उपाधि का उपयोग करता था, अपनी मुद्रा में एक ओर यूनानी भाषा में **बासिलियस बासिलियोन** अंकित

कराया तो दूसरी ओर प्राकृत म महाराजस राजराजस, जो उपरोक्त हखमनी मूल का ही सीधा अनुवाद था। बाद मे महाराज, महाराजाधि-राज और राजाधिराज जैसी प्राकृत उपाधिया भारतीय शासको के लिए सामान्य प्रयोग की उपाधिया बन गयी। फारस की सिगलोइ मुद्राए, जिन पर उनके राजाओ की दाढिया और ताज बडी प्रधानता स परिलक्षित होते है, पहलवियो के भारतीय प्रदेशो मे प्रचलित थी। इन चादी के सिक्को का प्रारम्भिक भारतीय सिक्को पर भारी प्रभाव पडा। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि भारतीय कार्षापण सिक्को की फारसी शब्द कर्ष से बडी समानता है जिससे सभवत वह शब्द बना था। फारसी म कर्ष का अर्थ है चादी और ताबे की एक तौल। इसी शब्द को मिस्र म छठी सदी ई पू के ईरानी उपनिवेशो मे मुद्रा के लिए इस्तमाल किया गया था। सर्वविदित है कि कुषाण राजा कनिष्क न अपने सिक्को पर फारस के दवी दवताओ के नामो का उल्लख किया था जैस मीहरो (सूर्य), माओ (चन्द्र), अथ्शो (अग्नि), ओअदो (वायु) ओर्थाग्नो (वेरथ्रघन), फारो (गौरव) और नना जो क्रमश मिथ् माह अतश वात, वृत्रहन्, ह्वरना और अनाहिता है।

ईरानी ज्योतिष कृति ताजिको का फारसी से सस्कृत मे अनुवाद और भारत म उसके उपयोग का प्रचलन, वास्तव मे, एक लम्बी कहानी है जिससे वास्तुकला के क्षत्र म छनी के कौशलो तथा चित्रकला मे रगो और रखाओ के सूक्ष्म अकनो जैस नवोन्मेषो का, जिन्होने भारत की मध्ययुगीन चित्रकला को गौरव दिया, बडा सम्बन्ध है। सगीत मे अनेक राग रागनिया और प्रणालिया जुडी और स्वर साधने के लिए अनक वादय यत्र फारस से आये। और, जैसे जैसे सदिया समय की धारा मे बहती गयी, भारतीय खादय सामग्री की सूची मे, मुख्यत मिठाइयो मे, एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ और भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रो मे विशाल शब्द भण्डार आया जिससे भारतीय शब्दावली समृदध हुई।

O

जो इस प्रदेश में ब्राह्मण बन कर बस गये और शकद्वीपीय क
वराहमिहिर ने, जिनका नाम ईरानी था और जो शायद स्वयं
शकद्वीपीय ब्राह्मण थे, मग लोगों को सूर्य देवता का
पुजारी कहा है और सूर्य मूर्ति के लिए उदीच्य वेश निर्धारित
है जिसका अर्थ था कि जूते घुटने तक हों, मेखला का एक सि
तक लटका हो और धड़ एक लम्बे कुर्ते और कढ़ाईदार चोगे
हो और सिर पर ईरानी पगड़ी या तिकोनी टोपी हो, जो प
शक और कुषाण राजाओं की पोशाक हुआ करती थी। वे लो
सिल्क की कढ़ाईदार चादर इस्तेमाल करते थे जिसको इस्तब्
जाता था। इसका सस्सानी बादशाह इस्तेमाल करते थे और आ
कर यह भारतीय राजाओं की प्रिय वस्तु बन गयी। बाणभ
अपने हर्षचरित में इसको स्तवरक कहा है और बताया है कि
छोर पर मोती जड़े होते थे। अग्नि पूजक पारसी भी भारत में स
शासन काल में आ गये थे, कुछ तो अपने देश में धार्मिक झग
कारण और कुछ बाद में ईरान के अन्दर इस्लामी उत्पीड़न के
आये। सर जान मार्शल ने तक्षशिला में, एक अग्नि मन्दिर
निकाला और अरिस्तोबोलस तथा वेइ-शू (५७२ ई.) दोनों ने
शिला में शिकारी चिड़ियों के सामने शवों का फेंका जाना देखा
वराहमिहिर के जन्म से बहुत पहले तियाना के अपोलोनियस (४२
ने तक्षशिला का सूर्य मन्दिर देखा और उसका वर्णन किया था।

यद्यपि शकों ने सदियों अपने प्रशासित क्षेत्रों पर स्वतंत्रता
राज्य किया, फिर भी फारस के सम्राटों की अपनी आधीनत
स्मरण कर वे अपने को क्षत्रप कहते थे; क्षत्रप पह्लवी शब्द है जि
अर्थ है फौजी या गैर-फौजी राज्यपाल। कुषाण राजा जो अपने
की भारतीय कला के कुशल निर्माता और मूर्तिकला में भारतीय मू
दोनों के अदम्य प्रसारक थे, अपने को शाहिशाहानुशाहि कह
(कनिष्क ने अपनी मुद्राओं पर शाओनानो शाओ की उपाधि का प्र
किया है)। समुद्रगुप्त ने इलाहाबाद के अपने स्तम्भलेख में उनके
जो शाहिशाहानुशाहि शब्द का प्रयोग किया है, यह मुद्राओं पर अ
शाओनानो शाओ की ही अनुकृति है, जो दरअसल दारा के पुरातन
प्रयुक्त मूल क्षयाथियानाम् क्षयाथिया का ही कुषाण रूपान्तर है।
शिला के शक राजा मोय ने (७७ ई. पू.) जो अपने लिए मिर्धिराधि
(राजाओं के महान् राजा) की उपाधि का उपयोग करता था, अ
मुद्रा में एक ओर यूनानी भाषा में बासीलियस बासीलियोन मे

कराया तो दूसरी ओर प्राकृत में **महाराजस राजराजस**, जो उपरोक्त हखमनी मूल का ही सीधा अनुवाद था। बाद में महाराज, महाराजाधिराज और राजाधिराज जैसी प्राकृत उपाधियां भारतीय शासकों के लिए सामान्य प्रयोग की उपाधियां बन गयीं। फारस की सिगलोइ मुद्राएं, जिन पर उनके राजाओं की दाढ़ियां और ताज बड़ी प्रधानता से परिलक्षित होते हैं, पह्लवियों के भारतीय प्रदेशों में प्रचलित थीं। इन चांदी के सिक्कों का प्रारम्भिक भारतीय सिक्कों पर भारी प्रभाव पड़ा। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि भारतीय **कार्षापण** सिक्कों की फारसी शब्द कर्ष से बड़ी समानता है जिससे संभवतः वह शब्द बना था। फारसी में **कर्ष** का अर्थ है चांदी और तांबे की एक तौल। इसी शब्द को मिस्र में छठी सदी ई० पू० के ईरानी उपनिवेशों में मुद्रा के लिए इस्तेमाल किया गया था। सर्वविदित है कि कुषाण राजा कनिष्क ने अपने सिक्कों पर फारस के देवी-देवताओं के नामों का उल्लेख किया था जैसे मीइरो (सूर्य), माओ (चन्द्र), अथ्शो (अग्नि), ओअदो (वायु), ओर्थाग्नो (वेरेथ्रघ्न), फार्रो (गौरव) और नना जो क्रमशः मिथ्, माह्, अतश, वात, वृत्रहन्, ह्वरेना और अनाहिता हैं।

ईरानी ज्योतिष कृति **ताजिकी** का फारसी से संस्कृत में अनुवाद और भारत में उसके उपयोग का प्रचलन, वास्तव में, एक लम्बी कहानी है जिससे वास्तुकला के क्षेत्र में छतों के कौशलों तथा चित्रकला में रंगों और रेखाओं के सूक्ष्म अंकनों जैसे नवोन्मेषों का, जिन्होंने भारत की मध्ययुगीन चित्रकला को गौरव दिया, बड़ा सम्बन्ध है। संगीत में अनेक राग-रागनियां और प्रणालियां जुड़ीं और स्वर साधने के लिए अनेक वाद्य यंत्र फारस से आये। और, जैसे-जैसे सदियां समय की धारा में बहती गयीं, भारतीय खाद्य-सामग्री की सूची में, मुख्यतः मिठाइयों में, एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ और भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में विशाल शब्द-भण्डार आया जिससे भारतीय शब्दावली समृद्ध हुई।

०

: ६ :

भारतीय-यूनानी और रोमन

मौर्यों के बाद का काल भारत के लिए अत्यन्त कठिन था। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने जिस महान् भारतीय साम्राज्य का निर्माण किया था, वह आगे चल कर अंशतः स्वयं मौर्य शासकों की निर्बलता के कारण और अंशतः एशियाई-यूनानियों के पंगुकारी हमलों के कारण छिन्न-भिन्न हो गया। मकदूनिया के शासकों के आक्रमण से दारा का विस्तृत साम्राज्य ढह कर अपने ही खण्डहरों में खो गया। सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसका एशियाई और मिस्री साम्राज्य छोटे-छोटे स्वतंत्र और आपस में लड़ने वाले यूनानी राज्यों में बट गया। एशिया में अनगिनत यूनानी बस्तियां उठ खड़ी हुईं, जिन में से एक, आमूदरिया की घाटी में स्थित बाख्त्री की बस्ती, ह्रासोन्मुख मौर्यों तथा भारतीय समाज के लिए बड़ी निर्णयकारी सिद्ध हुई। सिकन्दर का हमला तो भुला दिया गया, लेकिन उससे यूनानी राज्यों की स्थापना से सम्बन्धित कुछ ऐसी स्मृतियां शेष रह गयीं जिनसे भारत पर कई प्रकार से प्रभाव पड़ा।

निश्चय ही अप्रत्यक्ष परिणाम भी कोई कम महत्वपूर्ण नहीं हैं; उनमें सबसे महत्वपूर्ण था, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, भारत के अन्दर और बाहर यूनानी बस्तियों का कायम होना। सिकन्दर ने बाख्त्री (बैक्ट्रिया) के यूनानियों तथा अनेक विदेशियों के लिए रास्ता खोला जिसने स्थायी विजय का एक सुनिश्चित रूप लिया। भारतीय-यूनानी (हिन्दू-यवन), भारतीय पार्थव (या पह्लव), शक और कुषाण जैसे विदेशी राज-परिवारों ने विभिन्न केन्द्रों से भारत पर राज किया और यहां की राजनीति, सामाजिक आचार-व्यवहार तथा विचारों पर गहरा प्रभाव डाला। इस सम्पर्क के फलस्वरूप दूसरी सदी ई. पू. से तीसरी सदी ई. तक, पांच सदियों तक जिस काल उपरोक्त कबीलों ने शासन किया, भारत में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।

यूनानी बस्तियां अनगिनत थीं। यूथीदेमिया, दत्तामित्री, सिकन्दरिया-नीकिया, बूकेफाला जैसे समूचे शहर थे और कपिसा, पुष्कलावती, तक्षशिला, सागल, पत्तन जैसे नगरों में उनके अपने मुहल्ले थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिन राजधानियों से यूनानी राजाओं ने शासन किया, वे काफी संख्या में यूनानियों के निवास और यूनानी संस्कृति के प्रभावशाली केन्द्र बने। स्मरणीय है कि पार्थिया के फारसी राज्य को छोड शेष सम्पूर्ण दक्षिण पूर्वी योरप, उत्तरी मिस्र और आमू तथा गंगा तक सम्पूर्ण एशिया यूनानियों के अधिकार में था। उन्होंने पाटलिपुत्र पर भी हमला किया और कुछ समय तक उस पर अधिकार बनाये रखा। जैसा गार्गी संहिता के युग-पुराण में, जो उस घटना के लगभग सौ वर्ष के अन्दर लिखा गया था, बताया गया है, इन दुष्ट विक्रान्त यवनों (दुष्ट विक्रान्त यवना) के हमलों के सामने भारत के तमाम प्रदेश छिन्न भिन्न हो गये थे।

भारतीय जीवन पर यूनानी बस्तियों के प्रभाव का विवेचन करने से पहले यहां भारत और यूनान के सम्पर्कों का थोडा हवाला देना संगत होगा। प्रथम सम्पर्क जरक्सीज और दारा प्रथम के काल में स्थापित हुआ, या शायद उससे भी पहले जब कुरुष (साइरस) ने गांधार पर अधिकार किया था। पिछले अध्याय में हम बता चुके हैं कि कैसे भारतीय सिपाही यूनानी युद्धों में लडे और कैसे मिस्रियों, यहूदियों, फिनीशियों, असूरियों, शकों और यूनानियों के साथ समान साम्राज्य के नागरिक होते हुए भारतीयों को यूनानियों से भेंट करने का काफी अवसर मिला। व्याकरणाचार्य पाणिनि यूनानियों से अवश्य परिचित थे क्योंकि उन्होंने उनकी लिपि को यवनानी लिपि कहा था, ऐसी प्राय सभी विद्वानों की राय है, यद्यपि मेरी राय इससे कुछ भिन्न है। मैं समझता हूं कि यूसुफजई इलाके के शलातुर गांव के पाणिनि पठान ब्राह्मण थे जो पहले ईरानी साम्राज्य के नागरिक थे बाद में पाटलिपुत्र जाकर भारतीय नागरिक बन गये थे और जिस यवनी लिपि का उन्होंने उल्लेख किया वह वास्तव में ईरानी लिपि थी जिसे दारा के साम्राज्य के नागरिक होने से वे जानते थे। अभी ग्रीक हिन्दूकुश पार आये भी नहीं थे, जिससे उनकी भाषा का उल्लेख करना पाणिनि के लिए संभव न था—यद्यपि पाणिनि के उसी सूत्र पर टिप्पणी लिखते समय पतंजलि ने "यवनी" से तात्पर्य ग्रीक समझा, कारण कि ग्रीक उस काल तक समूचे उत्तर भारत पर हावी हो गये थे।

बताया जाता है कि एक भारतीय दार्शनिक ने एथेन्स में सुकरात से भेंट की थी, ३६६ ई. पू. में उसकी मृत्यु से पहले, और उससे लौकिक-अलौकिक समस्याओं पर वार्ता की थी। सुकरात के प्रशिष्य अरस्तू ने सिकन्दर को अपने साथ कुछ यूनानी दार्शनिकों को ले जाने की भी सलाह दी थी ताकि वे लौट कर भारतीय दर्शन पद्धति से यूनानी विद्वत्समाज को परिचित करा सकें। उस विजेता के साथ अनेक दार्शनिक आये और पहली सदी ई. का लेखक प्लूतार्क सिकन्दर के जीवन चरित्र में लिखता है कि उन्होंने भारतीय विचारकों से सम्पर्क स्थापित किया। उसने उन विद्वानों के नाम दिये हैं जो सिकन्दर के साथ आये थे। प्लूतार्क ने बताया है कि जब सिकन्दर को उन दस ऋषियों पर क्रोध आया जिन्होंने सिन्ध में मूषिक जनता को विद्रोह के लिए भड़काया था और उनको उसने मौत के घाट उतारने का आदेश दिया, तब उसके साथ आये दार्शनिकों ने उसको रोका और उसे समझा-बुझा कर उनसे प्रश्न पूछने के लिए तैयार किया। वह प्रश्नमाला और जिस तरह उनके उत्तर दिये गये, सब असाधारण रूप से दिलचस्प हैं जिनमें से कुछ उदाहरण आगे दिये जा रहे हैं। जब सिकन्दर ने पूछा कि पहले दिन बनाया गया या रात, तब भारतीय ऋषि ने जवाब दिया, "पहले दिन बनाया गया, रात से एक दिन पहले।" जब चकित सिकन्दर ने इसकी व्याख्या करने को कहा तो ऋषियों ने कहा, "असाध्य प्रश्न का उत्तर भी असाध्य होगा।" इसके बाद एक पैना सवाल पेश किया गया जिसका जवाब भी उतने ही पैने व्यंग्य से दिया गया। सिकन्दर ने पूछा: "जीवों में सबसे बुद्धिमान कौन है?" और उत्तर में सिकन्दर के पागलपन पर उपहास उभर उठा: "निःसन्देह वह पशु, जिसने मनुष्य की नजर से अपने को बचा लिया है।" सिकन्दर क्रोध से भर उठा और ऋषि को कत्ल करने ही वाला था कि उसके साथियों ने उसको यह अनुचित कृत्य करने से रोक दिया और इस प्रकार ऋषि बच गया। सिकन्दर के दार्शनिकों में स्वय अरस्तू का एक भतीजा था।

एक पीरो नामक दार्शनिक, जिसकी मृत्यु २७५ ई. पू. हुई, सिकन्दर के बाद भारत आया था और दियोजिनीज (यह "श्वान दियोजिनीज" या "टब का दार्शनिक" नाम से विख्यात व्यक्ति से भिन्न था) ने लिखा है कि पीरो उस भारतीय दार्शनिक से बड़ा प्रभावित हुआ था जिसने उसके सामने अनेक्सारखोस की भर्त्सना इन शब्दों में की: "दूसरों को सद्गुण सिखाने का तुम्हारा प्रयत्न कोरा दम्भ है

और यह तब तक कोरा दम्भ बना रहेगा जब तक तुम राजाओं और उनके महलों की शरण जाते रहोगे।''

सिकन्दर को सलाह दी गयी थी कि वह दो सम्मानित तर्कशास्त्रियों (जिम्नोसोफिस्त) से भेंट करे जिनके नाम कलानोस और दन्दामिस थ। उसने उन्हें बुलाया, पर उन्होंने मिलने से इनकार कर दिया। ओन-सिक्रितोस नामक यूनानी दार्शनिक को (जिसने एथेन्स में दियोजिनीज की परम्परा के सिनिक दार्शनिक के रूप में नाम कमा लिया था) सिकन्दर ने उन तर्कशास्त्रियों को लाने के लिए भेजा। कलानोस ने यूनानी दार्शनिक को अपने कपडे उतार कर बातचीत करने के लिए कहा और जब यूनानी दार्शनिक ने उसका पालन किया तब उसस बातचीत की और बड समझाव-बूझाव के बाद वह सिकन्दर से मिलने के लिए राजी हुआ। सिकदर उसकी निर्भीक स्वतत्र वृत्ति स प्रभावित हुआ, हालांकि उसने इतनी बडी सेना लेकर इधर-उधर भटकने और लोगों का सुख-चैन बिगाडने के लिए सिकन्दर की भर्त्सना की। कलानोस न चमडे का एक रूखा टुकडा धरती पर फका और दिखाया कि जब तक कोई चीज केन्द्र पर स्थित नहीं होती तब तक उसके सिर ऊपर-नीचे होत रहेंगे और कि यही उसके साम्राज्य का चरित्र था जिसके सीमान्त सदा अलग होने के लिए सिर उठात रहते थ। ''अन्तत अपनी मृत्यु के बाद तुम्हें उतनी ही धरती की आवश्यकता होगी जितनी कि तुम्हारे शरीर की लम्बाई है,'' उसने कहा। अपनी इच्छा के विपरीत वह सिकन्दर के साथ फारस गया जहा उसने आग म प्रवश कर समाधि ली। दन्दामिस को अपनी मातृभूमि छोडने के लिए सहमत नहीं किया जा सका।

महाभारत और **मनुस्मृति** दोनों ही यूनानियों (यवनों) से परिचित हैं। एक यवन राजा भगदत्त के विषय में **महाभारत** म कहा गया है कि वह हाथी पर सवार होकर पाण्डवों से लडा। सिकन्दर के बाद भारत और यूनानी बस्तियों के सम्पर्क का अकाट्य और पुरालेखबद्ध प्रमाण अशोक के शिलालेखों में मिलता है। उनमें से एक में सम-कालीन पाच यूनानी राजाओं का उल्लख है जिनके राज्यों में उसने **धम्म** का प्रचार कराया और एक अन्य शिलालेख में कहा कि उसने यवन राज्यों में मनुष्यों और पशुओं दोनों के लिए चिकित्सालय खुलवाये और भारत से औषधि वाले पौधे तथा जडी बूटियों को वहा भेजा तथा उनके लाभ के लिए उनको वहा रोपवाया। उनमें जिन यूनानी राजाओं और राज्यों की चर्चा है उनके नाम ये हैं

अंतियोग (अंतियोखस् द्वितीय थियोस, सीरिया का, २६०-२४६ ई. पू.), तुलमाय मिस्र का (प्तोलेमी द्वितीय फिलादेलफस्, २८५-२७३ ई. पू.), मक (साइरीन का मगस, ३००-२५८ ई. पू.), अंतकिन (मकदुनिया का अन्तिगोनस गोनातस्, २७८-२३९ ई. पू.) और ऐक्यसुदल (अलिकसुदारो, एपिरस का सिकन्दर, २७८-२५८ ई. पू.)। बताया जाता है कि इनमें से प्तोलेमी ने दियोनीसियस् को मौर्य दरबार में राजदूत बना कर भेजा। राजदूत स्तर पर सम्पर्क अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त के शासन काल में प्रारम्भ हो चुके थे, जब उसके भूतपूर्व शत्रु, सीरिया के सेल्यूकस ने, जिससे चन्द्रगुप्त ने चार प्रान्त जीते थे, मेगस्थनीज को अपना राजदूत बना कर भेजा था। अशोक के पिता बिन्दुसार ने भी सीरिया के दरबार से भेजे गये दूत देइमाखस् का राजदूत के रूप में स्वागत कर उन सम्पर्कों का नवीकरण किया। प्तोलेमी द्वितीय फिलादेलफस् के बारे में बताया जाता है कि उसने २७१-२७० ई. पू. में सिकंदरिया में विजय की एक शोभायात्रा में भारतीय नारियों, वृषभों और संगमरमर के नमूनों का प्रदर्शन किया। एक और जलूस में भारतीय स्त्रियों, शिकारी कुत्तों, गायों और ऊंटों पर मसालों का प्रदर्शन किया गया था। ई. पू. दूसरी शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश (१६६) में बताया जाता है कि अन्तियोखस चतुर्थ ने दाफने नगर में एक विजय समारोह के जलूस में भारतीय हाथियों के ८०० दांतों का प्रदर्शन किया। भारतीय मसाले प्राप्त करना एक गर्व की वस्तु बन चुकी थी। उसी सदी में सेल्यूकस के एक वंशज ने जब अफगानिस्तान पर हमला किया तब उसने हारे भारतीय प्रान्तों पर दावे किये, मगर अपना दावा हास्यास्पद हो जाने से वह वापस लौट गया। मेफिस (मिस्र) में भारतीय व्यापारियों की एक बस्ती थी और सिकन्दरिया के लोग भी उनसे परिचित थे जो यात्राएं कर वहां जाते, ठहरते और अपना माल बेच कर वापस चले जाते थे। इन प्रदर्शनियों और व्यावसायिक वस्तुओं के विषय में पोलीबियस और पेरीप्लस ने काफी लिखा है।

कश्मीर की बृहत्कथा और कथासरित्सागर में यवनों को चालाक चरित्र का मगर यन्त्रनिर्माण में निपुण बताया गया है। एक कथा में एक यूनानी (यवन) द्वारा बनाये गये यान में उड़ने की चर्चा है। बुद्धस्वामी ने यूनानियों को कुशल दस्तकार बताया है और यूनानी दैयाओं के उपयोग की साक्षी दी है। ये दस्तकार मुख्यतः गांधार—सिंध नदी के दोनों तटवर्ती प्रदेशों—से आते थे जहां यूनानी और

यूरेशियाई लोगो की बस्तिया कुछ शताब्दियो तक बनी रही, इसके निस्सदिग्ध प्रमाण मिलते है।

सस्कृत नाटको मे यवनियो अर्थात यूनानी महिलाओ की चर्चा है जो राजाओ के शस्त्रो की सम्भाल करती थी। इसका प्रमाण भास से कालिदास तक के नाटको मे मिलता है। कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** मे राजा को सलाह दी गयी है कि सुबह शैया छोडते समय सबसे पहले यवनियो के दर्शन करे, कारण कि यह शुभ है। अपनी महान कृति मे मेगस्थनीज ने अपनी आखो देख कर पुष्टि की है कि जब चन्द्रगुप्त शिकार खेलने बाहर जाता था तब उसे शस्त्रधारिणी यवनिया घेरे रहती थी। मदिरापान के दृश्यो को अकित करने वाली मूर्तियो मे फ्राक पहने यूनानी युवतियो का परिचारिका रूप मे आसव से चषक भरना इतना सुविदित है कि उसका उल्लेख ही क्या किया जाय। मिनान्दर के प्रश्नो का सग्रह **मिलिन्द पन्ह** मे, जो अफलातून (प्लेटो) की कृति **रिपब्लिक और दायोलोग्स** की शैली मे लिखा गया है और जिसमे यूनानी राजा की राजधानी, साकल, का चित्रण हुआ है, उन यूनानी मार्गो का स्मरण करता है जो एक दूसरे के तर्कों के चिथडे उडा देने वाले दार्शनिको के तर्कों से गूजते रहते थे। उस कृति मे कहा गया है कि साकल (सियालकोट) की सडकें "हर मत के गुरुओ के स्वागत स्वरो से गूजा करती है और नगर प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रमुख विद्वानो का केन्द्र है।" शताब्दियो तक सिन्ध, पजाब, गाधार, अफगानिस्तान और बैक्ट्रिया पर शासन करने वाले यूनानी राजाओ की राजधानियो और नगरो के अस्तित्व से यह स्वाभाविक ही था कि भारतीय समाज पर उनका प्रभाव काफी गहरा और सर्वाग रूप से पडे। वे यूनानी जिन्हे उस रियाई **यवनाइ**, दारा **यौना**, **मनुस्मृति**, **महाभारत** और पतजलि **यवन** और अशोक **योन** कहते थे, कोई समवर्ती ज्ञानशून्य लोग न थे, बल्कि हसी-खुशी का जीवन बिताने वाले ऐसे प्रवासी थे जो अपने मनपसन्द देश मे अपने खेल खेलते थे, अपने नाटक करते थे, अपने होमर का पाठ करते थे, अपने वाद्ययन्त्र बजाते और नाचते गाते थे। और अब हम उनके नियमो और सास्कृतिक कार्यो की चर्चा करेगे यह दिखाने के लिए कि उनका स्थानीय जीवन पर क्या प्रभाव पडा और कैसे भारतीयो ने किसी पूर्वग्रह या शर्त बिना उनकी विशेषताओ को अपना लिया।

यूनानियो ने लगभग दो घटनापूर्ण शताब्दियो तक पजाब, सिन्ध, गाधार और अफगानिस्तान पर शासन किया। जिन दस शासको ने

बैक्ट्रिया पर हुकूमत की, उनमे से सबसे पहले देमित्रियस् (१८०-१६५ ई. पू.) ने भारत पर हमले किये और इस भूमि पर यूनानी राजवंश स्थापित किया। उसको यूनानी लेखको ने ''रेक्स इण्डोरम'' अर्थात् ''भारतीयो का राजा'' कहा है। वह ब्राह्मण शुंग राजा पुष्यमित्र का समकालीन था जिसने पाटलिपुत्र मे राज-सत्ता का तख्ता पलटा और मगध मे मौर्यवंश के शासन का अन्त किया। इस शुंग सेनापति द्वारा अभिसृष्ट क्रांति के कुछ ही पहले देमित्रियस् ने संड़सी की दो भुजाओ के रूप मे भारत पर आक्रमण किया था जिसकी एक भुजा उसके दामाद मिनान्दर के नेतृत्व मे एक सेना पूर्व मे मथुरा और साकेत होती हुई और दूसरी स्वयं उसके नेतृत्व मे पश्चिम से मध्यमिका, चित्तौड़ के पास नागरी, होती हुई बढी और दोनो पाटलिपुत्र मे मिली। समसामयिक लेखक पतंजलि ने अपनी कृति महाभाष्य मे लिखा : 'अरुणद् यवनः साकेतम् अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्'' (यूनानियो ने साकेत और माध्यमिक पर घेरा डाला)। गार्गी-संहिता के युगपुराण मे, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है, ''दुष्ट विक्रान्त यवनाः'' के इस अभियान की चर्चा की गयी है। देमित्रियस् ने यूथीदेमिया और दत्तामित्री नामक दो फौजी बस्तियां, एक अपने पिता के नाम पर दूसरी स्वयं अपने नाम पर, बसायी। वह पहला यूनानी-भारतीय शासक था जिसने अपनी मुद्राओ पर दो भाषाओ—यूनानी और खरोष्टी—मे लेख लिखवाये। इस प्रकार दोभाषी मुद्राए चलाने वाला दूसरा हिन्दू-ग्रीक राजा अगाथोक्लीज था। देमित्रियस् के समकालीन राजा मिनान्दर ने भी अपनी मुद्राओ पर एक ओर यूनानी मे और दूसरी ओर खरोष्टी लिपि मे प्राकृत मे लेख लिखवाया। मिनान्दर की मुद्राओ का काबुल और कश्मीर से लेकर पश्चिम समुद्र के बरीगाजा (भाड़ौच) तक के सुविस्तृत क्षेत्र मे प्रचलन था। भारत मे शक माउस (७० ई. पू.) से लेकर अजेस् और अजीलिस् तक के एक के बाद एक सभी राजाओ ने देमित्रियस् और अपोलोदोरस् के सिक्को का अनुकरण किया और उन पर ज्यूस, हेराक्लिज, पालस और पोसेइदोन जैसे अपने देवताओ को अंकित कराया।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति पर एक और महत्वपूर्ण यूनानी प्रभाव पड़ा, सिक्के ढालने की कला के क्षेत्र मे। भारतीय-यूनानी सिक्को से इतिहासकारो को भारतीय इतिहास के एक पूरे काल, भारतीय-यूनानी काल का (और भारतीय-पार्थियाई काल का—उनके यूनानी मूल के सिक्को से) पता करने मे सहायता मिली, इसके अतिरिक्त

यह भी एक तथ्य है कि भारतीय सिक्का निर्माण कला में महान परिवर्तन हुआ। भारतीय यूनानी सिक्कों के उदय से पहले भारत में आहत के सिक्कों के प्रचलन का पता चलता है। यूनानी मुद्रा के प्रचलन से उस नियमित आकार के और राजकीय मुहर वाले सिक्कों का वह नमूना तैयार हुआ जो आज तक प्रचलित है। यूनानी शब्द द्रख्म को द्रम्म रूप में स्वीकार किया गया जिससे हिन्दी का दाम शब्द निकला जो आज तक प्रचलित है।

अपनी बस्तियों में यूनानी लोग यूनानी कला का विकास करते थे और यूनानी नाटक खलते थे। सन्त क्रिसोस्तोम (११७ ई) ने जो कहा था कि, "होमर के काव्य को व भारतीय गाते हैं जिन्होंने उसका अपनी भाषा में अनुवाद कर लिया है और प्लतार्क तथा इलियन ने जिसकी पुष्टि की, वह पूर्णतया सच न भी हो और ईलियद तथा रामायण के सारतत्व म समानताए सतही भी रही हों, तब भी सही है कि दोनों भाषाओं की एक दूसर पर अवश्य प्रतिक्रिया हुई होगी और उनके शिल्प तथा वस्तु तत्व को दोनों ने काफी हद तक प्रभावित किया होगा। उन भारतीय कथाओं के अतिरिक्त जिनमें यवनों के कौशल का वर्णन हुआ है जनक-जातक जैसी जातक कथाओं में दुस्साहसिक अभियानों की कहानियों और महावश म एसी समानताए मिलती हैं जिनको आकस्मिक कह कर नहीं टाला जा सकता। महावश में विजय के जलयान के डूबन और बाद में उसका सिंहल दवीप में यक्षी दवारा स्वागत किय जान की कथा स उलिसिज की उन दुस्साहसिक जलयात्राओं की समानता स्पष्ट दिखायी देती है जिनका होमर न ओदिसी में वर्णन किया है। सरज की ओर उड कर अपने पख जला देन वाले सम्पाती की कथा इकेरस की उडान की कथा स इतनी मिलती है कि उसकी समानता को नजरन्दाज नहीं किया जा सकता। प्रभाव कितनी गहराई तक पडा इसके लिए सकेन्द्रित अध्ययन की आवश्यकता है। लेकिन ऐसे अनेक महत्वपर्ण यनानी शब्द हैं जो भारतीय शब्दावली में प्रवेश कर गये, जो मात्र आकस्मिक नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए यवनिका शब्द को ही ले। इसका अर्थ यूनानी कपडे से बना परदा मात्र नहीं था जैसा कि कछ विदवान सिदध करने का प्रयास करत हैं, बल्कि उससे भारतीय रगमच की पटाक्षेप व्यवस्था पर गहराई से प्रभाव पडा था। यह महत्वपर्ण है कि सरगुजा के गुफा मच के अस्तित्व के बावजूद भारत में यूनानियों के आगमन से पहले लक्ष्मी परिणय जैस नाटक के अति-

रिक्त और कोई नाटक या मंच नहीं मिलता; उसके प्रारम्भिक नाटककार थे भास, सौमिल्ल और कविपुत्र जिनमें से कोई पहली सदी ई. से पहले का नहीं है। इनमें से पहले नाटककार द्वारा लिखित प्रतिज्ञायौगंधारायण में सिपाहियों को छिपाने के लिए लकड़ी के कपट-गज की घटना की होमर के ट्रोजन अश्व की घटना से इतनी समानता है कि ट्रोजन अश्व की परिकल्पना को काष्ठगज की जननी मानना अनिवार्य होगा। यूनानी रंगमंच के प्रहसनों का मृच्छकटिक के क्रान्तिकारी हास्य-विनोद से भी संबंध था जिसको तीसरी सदी ई. में नाटककार शूद्रक ने, जो यूनानियों की तरह निम्न जाति का था, एक ऐसे काल में लिखा था जब भारत में यूनानी रंगमंच का सर्वथा लोप नहीं हो गया था।

यूनानियों की लिपि (यवन-लिपि) से पतंजलि परिचित थे और उनके पहले अशोक ने उसका उपयोग भी किया था। इस तथ्य से यह काफी स्पष्ट हो जाता है कि कम से कम उन क्षेत्रों में जिनमें यूनानी शासन कर चुके थे, यूनानी भाषा काफी प्रचलित थी और उसको व्यापक रूप से समझा जाता था। यूनानी खरोष्टी दोनों में ही अंकित भारतीय-यूनानी सिक्कों के प्रचलन से, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, यही निष्कर्ष निकलता है। अनेक गैर-यूनानी राजा यूनानी भाषा सीखते और उसमें वार्तालाप करते बताये गये हैं। राजा के सरदार भी उसके कृपापात्र बनने के लिए वह भाषा सीखते रहे होंगे। जब तियाना का अपोलोनियस तक्षशिला आया तब वहां के गैर-यूनानी राजा फ्रातिस् ने उसका यूनानी भाषा में अभिनन्दन किया था और उसी भाषा में दोनों का वार्तालाप हुआ बताया जाता है। कहा जाता है कि फ्रातिस् ने यूनानी नाटकों का, विशेषकर यूरिपिदीज के नाटक ह्राक्लेइदाइ का अध्ययन किया था। इसके पहले ई. पू. २२ में राजा पोरोस ने रोम के सम्राट् ओगुस्तस् को यूनानी भाषा में पत्र लिखा था। उल्लेखनीय है कि "संस्कृत भाषा में कलम, स्याही, लिखने की तिपाई, पटल और पुस्तक के लिए जो शब्द हैं—कलम, मेज, पीठिका, फलक, और पुस्तक—उन सभी का मूल यूनानी शब्दों में मिलता है जैसे, कलमोस, मेलन, पित्तकियोन, प्लाकोस और पुग्मिसयोन।" भारतीय साहित्य में खान या भूमिगत रास्ते के लिए सुरंग शब्द का प्रयोग (यूनानी शब्द सुरिंक्स) सबसे पहले अर्थशास्त्र में हुआ है और इसका तथा क्रमेलक (केमल, ऊंट) का भी मूल यूनानी भाषा में मिलता है।

यूनानी खगोल विद्या और ज्योतिष शास्त्र से तमाम तकनीकी शब्द संस्कृत मे आये जिनकी हम आगे चर्चा करेगे।

वास्तव मे ज्योतिष विज्ञान के क्षेत्र मे जो कुछ हुआ, वह क्रान्ति से कम नही था और पश्चिमी दुनिया के विज्ञान को बिना किसी हिचक स्वीकार कर लिया गया तथा बिना किसी मीनमेख के आत्म-सात कर लिया गया। ज्योतिष ग्रथ **गार्गी सहिता** मे इस क्षेत्र मे यूनानियो की श्रेष्ठता और प्राथमिकता स्वीकार की गयी है और घोषित किया गया है कि "यद्यपि यवन म्लेच्छ है (जो जात-पात व्यवस्था नही मानते), फिर भी चूकि ज्योतिर्विज्ञान का जन्म उन्ही के यहा हुआ, उनका ऋषियो की भाति आदर किया जाना चाहिए।" महान् ज्योतिर्विद और फलित ज्योतिषी वराहमिहिर ने भी पुष्टि की है कि "यद्यपि यूनानी विदेशी है, फिर भी ज्योतिर्विज्ञान उनके यहा फूल-फल रहा है।" निष्कर्ष तो यहा तक निकाला जा सकता है कि वराहमिहिर शायद समसामयिक यूनानी आधिकारिक विद्वानो का हवाला दे रहे थे और शायद जब छठवी सदी ई के मध्य उन्होने ज्योतिर्विज्ञान की पाच व्यवस्थाओ पर अपनी कृति **पचसिद्धान्तिका** की रचना की तब अपने ज्योतिर्विज्ञान सिद्धान्त से सुपरिचित कुछ यूनानी भारत मे ही रह रहे थे। **यवनाचार्य, यवनेश्वर, मणित्थ, यवनजातक, यवन सिद्धान्त, मयमत, रोमक और पौलिस सिद्धान्त, यवनपुर** जैसे नामो से विज्ञान के यूनानी आचार्यो का पता लगता है। इस को थोडा और विस्तार से देखे।

वराहमिहिर ने ज्योतिर्मण्डलो, ग्रहो और राशि चक्रो के लिए जिन नामो का प्रयोग किया है, वे यूनानी है। उनके पाच सिद्धान्तो मे से लगभग सभी के लिए यूनानियो के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित की गयी है। सूर्य सिद्धान्त से स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त को सूर्य ने सर्वप्रथम रोमक मे (रोम नगर मे) असुर मय को बताया था। इससे सूर्य देवता द्वारा बाबुल सम्राट् हम्मुराबी को "विधि सहिता" बताये जाने की प्रतिश्रुति स्मरण हो आती है। जिस बेबिलोनिया से यूनानियो ने ज्योतिर्विद्या सीखी और भारतीयो को सिखायी, उससे भारतीय परिचित न थे। मगर पडोसी असीरिया की स्मृति अभी ताजी थी। इससे बाबुलियो और उन असूरियो या असुरो को एक समझने का भ्रम हो सकता था जिन्हे भारतीय परम्परा मे महान् भवन-निर्माण मे ख्याति प्राप्त थी जिससे फलित ज्योतिष मे **मयमत** की धारणा प्रकट हुई होगी। इस ज्ञान की दैवी उत्पत्ति का स्थान रोम

माना गया क्योंकि उस समय सिकन्दरिया के साथ ही रोम को एक महान् और सशक्त नगर माना जाता था जो पश्चिम में विज्ञानों का असाधारण केन्द्र भी था। वराहमिहिर के पांच सिद्धांतो मे रोमक और पौलिस का विदेशी होना स्वीकार किया गया है। इनमें रोमक से उस शाश्वत नगर रोम का तात्पर्य है जहां वराहमिहिर को न केवल कुषाण राजाओं द्वारा, बल्कि अपनी स्मृति मे अंकित अन्य राजाओं द्वारा भी राजदूत भेजे जाने का ज्ञान रहा होगा। इस भारतीय ज्योतिर्विद के काल में ही यानी ५३० ई. मे एक राजदूत सम्राट् जुस्तीनियन के दरबार में कोस्तांतिनोपुल (कुस्तुंतुनिया) भेजा गया था। उसी समय भारतीय मसाले रोम में लोकप्रिय हो रहे थे जिनकी भेंट द्वारा उस पुरातन नगर को एलारिक की तलवारों के घाट उतारे जाने से बचाया गया था।

रोमक सिद्धान्त में भारतीय युग व्यवस्था नहीं, युग गणना की अपनी प्रणाली प्रयुक्त हुई। उसमें उन्नीस वर्षों के मीतोनीय काल को १५० से गुणा करने की प्रणाली थी जिससे छोटे से छोटा युग भी चन्द्र मासों और साधारण दिनों की समायोजित संख्याओं में ठीक-ठीक विभाजित किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त इसमें यूनानियों के नगर यवनपुर (सिकन्दरिया) के याम्योत्तर के लिए गणना की गयी है। इसी प्रकार पौलिस सिद्धान्त भी विदेशी प्रणाली थी जिस पर मुख्यतः पौलस अलेक्जेंड्रिनस (३७८ ई.) का प्रभाव था। इसमें भी सारे पारिभाषिक शब्दों का उन्हीं अर्थों में प्रयोग किया गया है जिनमें यूनानी लेखक ने अपनी कृति एइसागोगे मे प्रयोग किया है। इसमें एक स्थायी युग की प्रस्थापना नहीं की गयी, बल्कि उसको समय की छोटी अवधियों को लेकर विशेष रूप से निर्मित किया गया है और यवनपुर तथा उज्जयिनी की देशान्तर रेखाओं का अन्तर दिया गया है।

जैसा ऊपर बताया गया है, यूनानी आचार्यों में मय, मणित्थ और यवनाचार्य का उल्लेख हुआ है। एक यवन जातक की नेपाली पाण्डुलिपि में एक बड़ा दुर्बोध और कटा-फटा बयान मिलता है जिसका अर्थ है कि किसी अनुल्लिखित संवत् के १९वें वर्ष में किसी यवनेश्वर ने अपनी भाषा से एक कृति का अनुवाद किया जिसको राजा स्फूर्जीध्वज ने १९१ वर्ष में ४,००० इन्द्रवज्रा छन्द में प्रकाशित किया। वराहमिहिर के टीकाकार भट्टोत्पल ने एक यवनेश्वर स्फूर्जीध्वज की चर्चा की है जिसने एक संवत् का प्रयोग किया था और जो शायद

उपरोक्त दो व्यक्तियों के रूप में स्मरण किया गया है। वराहमिहिर ने भी एक यवनाचार्य की चर्चा की है जो शायद वही था। इस प्रकार उसका काल १६६ ई बैठता है। मीनराज या मीनराजा यवनाचार्य एक और यूनानी आचार्य था जिसको **यवन जातक** और एक अन्य कृति का रचनाकार माना जाता है। इस मीनराज की गाथाओं का यूनानी राजा मिनोस (क्रीतक्षनीय यूनानियों के राजा मिनोस) बताया जाता है। मणित्य की **अपोतेलेस् माता** के लेखक मनेथो से तुलना की गयी है, जिसको वराहमिहिर से भिन्नमतीय और प्राचीन यूनानियों के सहमत माना गया है। यह व्यक्ति सिकन्दरिया का सुप्रसिद्ध लेखक हो सकता है जिसको मिस्र के फराऊन वंशों का अनुक्रम स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है।

संस्कृत में कुछ ज्योतिष शब्द जैसे होरा, पनफर, अपोक्लिम्ब, हिबुक, त्रिकोण, जामित्र और मेषूरण यूनानी के होरा, एपनफोरा, अपोकिलमा, हिबुक, त्रिकोन, डियोमेत्रोन और मेसुरन ही हैं। कुछ समानार्थक शब्दों में हैं लप्तोन के लिए लिप्त, केन्द्रोम के लिए केन्द्र, दुतोन के लिए द्युतम्, सुनफे के लिए सुनफ, अनफ के लिए अनफ और दकनोस के लिए द्रिकण। ग्रहों के लिए कुछ भारतीय नाम हैं हेली, हिम्न, अर, कोण, ज्यौ और अस्फजित जिनके यूनानी स्थानवाची शब्द हैं हेलियस, हरमिस, अरेस्, क्रोनोस्, ज्यूस, और अफ्रोदीती। ग्रहचिह्न जो पहले बाबुली से यूनानी में अनूदित हुए, फिर यूनानी से संस्कृत में, निम्नलिखित हैं क्रिया (यूनानी, क्रियोस्), तव्री (तौरोस), जितुम (दिदुमोइ), लेय (लियोन्), पाथोन (पार्थेनोस), जुक (जूगोन), कोर्प्य (स्कोर्पियोस), तौक्षिक (तोक्सोतिस), अगोकेल (एगोकेरोस्), हृद्रोग (हुद्रोखूस्) और इत्थ्य (इख्दूस्)। कन्या, मिथुन, वृश्चिक, सिंह, वृषभ, जैसे संस्कृत राशिनाम भी स्पष्टतया अनुवाद हैं।

ध्यान देने योग्य बात है कि ६० के गुणज की षाष्ठिक प्रणाली का सर्वप्रथम उपयोग बाबुली लोगों ने किया। यूनानियों ने उनसे वह प्रणाली सीखी और बाद में उन्होंने यह प्रणाली भारत पहुंचायी जहां उसको स्वीकार किया गया। यह महत्वपूर्ण है कि यद्यपि हिन्दुओं में जन्म-कुण्डली प्राचीन काल से ही लोकप्रिय है, फिर भी संस्कृत में उसके लिए कोई शब्द न था और भारतीय ज्योतिषी उसके लिए विदेशी शब्द "होडाचक्र" का उपयोग करते थे जो यूनानी शब्द होरस (सूर्य देवता) से बना है। इसी प्रकार यह भी कम अर्थपूर्ण नहीं कि

हिन्दू विवाह के लिए अत्यन्त पुण्य लग्न—जामित्र—जिसमें कालिदास ने शिव और पार्वती के दैवी जोड़े को विवाह-सूत्र में बांधा था, मूल यूनानी शब्द **वियमेत्रोन** से लिया गया था।

दर्शन और औषधि विज्ञान के क्षेत्रों में यूनानी और भारतीय प्रणालियों में काफी समानता है। व्यापक रूप से प्रचलित इस दृष्टिकोण का कि पाइथागोरस् ने अपने दार्शनिक विचार भारत से सीखे थे, कोई ठोस आधार नहीं है, क्योंकि इतने समय पहले भारतीय प्रभाव का वहां पहुंच पाना सम्भव नहीं था। निश्चय ही यह श्रुति है कि उसने भारत की यात्रा की थी या कम से कम वह फारस आया था और अगर इन दोनों के बीच स्थायी सम्पर्क होने की बात सिद्ध की जा सके तो उक्त दावे को असंगत नहीं कहा जा सकेगा। यही बात अन्य यूनानी दार्शनिकों के विषय में भी सही है (जिनमें थे हेराक्लीतोस्, एम्पीदोकिलस्, अनक्सोगोरस्, देमोक्रीतस् और एपिकुरस्) जिनके विषय में कहा जाता है कि उन्होंने अपने दार्शनिक विचार भारत से लिये।

यूनानी और भारतीय आयुर्विज्ञान में भी स्पष्ट समानता है। शरीर के रस, ज्वरों, जोकों द्वारा रक्तस्राव और चिकित्सक द्वारा गोपनीयता की शपथ लिये जाने के संबंध में दोनों के विचार एक हैं (चरक और हिप्पोक्रातिस् की तुलना की जा सकती है)। लेकिन शायद शल्य चिकित्सा में भारत आत्मनिर्भर नहीं था। कारण कि जहां ई. पू. तीसरी शताब्दी तक में हिरोफीलस् और एरासिस्त्रातस् के सिकन्दरिया स्थित स्कूल में शल्य चिकित्सा होने लगी थी, वहां सुश्रुत में चीर-फाड़ के यंत्रों पर दो अध्याय और चीर-फाड़ प्रणाली पर मात्र एक अध्याय है और चरक में इन विषयों पर कोई अध्याय ही नहीं है। शल्य चिकित्सा विज्ञान में भारत यूनान का ऋणी है, इसको स्थापित करना कठिन नहीं है। भारत में शरीर को चीर-फाड़ कर अध्ययन करने को जिस तरह बुरा और निषिद्ध माना जाता था, यह भारत में इस क्षेत्र के विकास में बाधक बन गया होगा। वाग्भट ने इस निषेध पर जोर दिया है। यूनान ने, निश्चय ही, अनेक जड़ी-बूटियों का प्रयोग भारत से सीखा। तीसरी सदी ई. पू. में अशोक ने अनेक औषधियों को समसामयिक यूनानी राज्यों को भेजा था और मनुष्य तथा पशु रोगों की चिकित्सा में उपयोगी समझे जाने वाले पेड़-पौधे वहां लगवाये थे।

यूनान के मूर्तिकारों ने, अतीत में फारसियों की ही भांति, भार-

तीय परम्परा के विषयो को आकार दिया। भारतीय जीवन और गाथाओ को, विशष कर बुदध के जीवन को, छोटे-बडे रूपो मे अकित किया गया। बुद्ध ने अपने अनुयायियो को अपनी मूर्ति बनाने से मना किया था, इसलिए हीनयान के सूत्रो के अनुसार, बोधिवृक्ष, छत्र, धर्मचक्रप्रवर्तन (न्याय चक्र) जैसे प्रतीक ही मूर्तिमान किये जा सकते थे, किन्तु बाद मे पहली सदी ईसवी म महायान के उदय के बाद जब व्यक्तिगत देवपूजा सम्मत हुई तब बुदध की मूर्तिया पहली बार प्रकट हुई। यह कोई महत्वहीन स्वीकृति नही होगी कि भारतीय और विदशी सग्रहालया मे सुरक्षित बुद्ध और बोधिसत्व की प्रतिमाए उस यूनानी कलाकार द्वारा निर्धारित प्रतिमान की अनुकृतिया है जिसके अनुसार पहली बुदध प्रतिमा का निर्माण हुआ था। यूनानी वस्त्रधारी और योरपीय आवृति वाली अनगिनत मूर्तिया और चित्रवल्लरिया लाहौर और पशावर के सग्रहालयो मे प्रदर्शित है और अनेक अभी धरती म छिपी हुई पुरातत्ववेत्ताओ की कदाल को प्रतीक्षा कर रही है। गाधार भारतीय-यूनानी, भारतीय-हलनी या यूनानी-रोमन जैसे नाम वाले शिल्पतत्र ने आगे चल कर पजाब और काबुल की घाटी के कला जगत पर शासन किया। गाधार की प्राचीन राजधानी तक्षशिला मे अयोनियाई खम्भो वाले अनेक भवन और मन्दिर मिले है। यूनानी कारीगरो और वास्तु शिल्पियो ने या उनके दूर-दराज के शिष्यो ने अनेक मदिर बनाय और कश्मीर के मदिरो पर हेलेनी वास्तुशिल्प की अनेक छापे छोडी। और, मध्य एशिया म, पामीर से चीन के तुन-हुआग तक सिल्क व्यापार के सार प्राचीन मार्ग पर, अनन्त हिन्दू बस्तियो और बौदध प्रदशो तथा विहारो मे गाधार शैली मे निर्मित मूर्तियो की एक नयी दुनिया ही बसा दी।

शुग वश मगध म सत्तारूढ हुआ। अपने मित्र बौद्धो और यूनानियो के प्रति प्रारम्भ मे उनका सक्रिय शत्रुता का भाव था। बाद मे वह ढीला पडा और देश मे कलात्मक गतिविधिया फूट पडी जिनमे यूनानियो का योगदान कम नही था। यूनानी मुक्त रूप से वैष्णव और बौदध धर्म मे दीक्षित हुए। इनमे से जो नाम उल्लिखित मिलते है, उनमे से मुख्य है मिनान्दर, हेलियोदोरस और थियोदोरस् के। उनके मौर्यकालीन स्तूपो के गिर्द साची और भरहुत की रेलिगे, जिन पर बडे सजीव पशु-पक्षी अकित है, उस युग की उप-

लब्धियों में सम्मिलित है। तक्षशिला के यूनानी राजा अन्तलिखिद द्वारा विदिशा के शुंग दरबार में भेजा गया यूनानी राजदूत हेलियोदोरस पहला व्यक्ति था जिसने विष्णु के सम्मान में एक स्तम्भ खड़ा कराया। शुंग के बाद मगध में काण्व और सातवाहन वंशों के संक्षिप्त शासन चले, जब कि सीमान्त पर यूनानियों और पार्थियाइयों की हुकूमत रही और शक लोगों ने भारी संख्या में प्रवेश किया।

यूनानी सम्पर्क से भारत पश्चिमी जगत् के सम्पर्क में आया। भारतीयों ने रोम साम्राज्य के कई भागों की यात्राए की और ऐसे लेख सुलभ हैं जिनसे सिद्ध होता है कि भारत ने सदियों तक और कभी-कभी हर दशक बाद रोमन सम्राटों के यहां दूत भेजे। उनकी सख्या अनगिनत है और यह तथ्य इतना सर्वविदित है कि यहां उसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं।

ज्योतिर्विज्ञान के क्षेत्र में रोमनों का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान था––सप्ताह के सम्बन्ध में रोमन ग्रह पंचांग का और सप्ताह के नामों का प्रचलन। दियो कैसियस के अनुसार, जब २३० ई. में उसने लिखा था, तब तक ग्रहों के विषय में पंचांगीय नाम प्रचलित हो गये थे। भारत ने यहूदी-ईसाई सप्ताह स्वीकार कर लिया जिसमें क्रम यहूदी प्रणाली से रखा गया और नाम ईसाई। वराहमिहिर, जिसने रोमक (रोम) को श्रीलका से ६०° पश्चिम में माना था, इससे परिचित था और उसने इसका प्रयोग भी किया। रोमन सम्राट् कोस्तांतीन ही था जिसने ३२१ ई. में रविवार को विश्राम का दिन निश्चित कर सात दिनों के सप्ताह को विधिवत स्वीकृति दी। इसके उपयोग का पहला उदाहरण ४८४ ई. के एक आलेख में मिलता है जिसके बाद उसका प्रयोग विलीन हो गया। फिर वह ८०० ई. से अनेक पुरालेखों में मिलता है जिसके बाद उसका उपयोग सामान्य हो गया।

रोमनों का एक महत्वपूर्ण योगदान था भारत में ईसाइयत का प्रवेश। कहते हैं कि संत तोमस तक्षशिला आये थे और उन्होंने गोदोफेरिस (१६-४५ ई.) को स्तम्भ तथा महल बनाने में योग देने का प्रस्ताव किया। अगर यह सही है तो यह घटना ईसा मसीह की मृत्यु के तुरन्त बाद प्रथम शताब्दी ई. में घटी। चरसद्दा में प्राप्त ईसा की एक ताम्र-मूर्ति, जिसके हाथ में एक चाभी है, रोम के धर्माध्यक्ष संत पीटर की ताम्र-मूर्ति की अनुकृति बतायी जाती है। सिकन्दरिया के पेन्तेनस् (मृत्यु २११ ई. के बाद) को भारत में ईसा के सदेशों का प्रचार करने के लिए भेजा गया बताया जाता है।

मगर उसके भारत पहुचने के पहले ही भारत मे वह सन्देश प्रचारित हो चुका था। छोटी-छोटी ईसाई जमाते शायद दूसरी सदी ई तक स्थापित हो चुकी थी। अगली दो सदियो मे ईसाई धर्म लगभग दृढता से स्थापित हो गया। किन्तु इसकी पहली सुनिश्चित सूचना कोसमस इन्दिको प्लीउस्तिस् (५३५ ई) से मिलती है जिसने लिखा है कि उसके समय मे मलाबार और कल्याण मे गिरजाघर स्थापित हो चुके थे और वहा फारस के एक पादरी को नियुक्त किया जा चुका था। ३२५ ई मे निकाइया मे आयोजित ईसाई धर्म सम्मेलन मे जिन तीन सौ पादरियो ने हस्ताक्षर किये थे, उनमे से एक "फारस और विशाल भारत का बिशप जान" था। भारत के पश्चिमी तट पर बसे ईसाई फारस के नेस्तोरियन समुदाय के थे।

ईसाई सवत की प्रारम्भिक सदियो मे रोमन नगरो से, विशेषकर रोम से, मसालो, सूती कपडो, मोतियो और हीरे-जवाहरातो का व्यापार अपने शिखर पर था। महाभारत मे ही शिरस्त्राणधारी और भारी-भरकम पोशाको वाले रोमनो को युधिष्ठिर के राजतिलक के अवसर पर भेट और उपहार देने की चर्चा है। वे रोम के व्यापारी थे।

भारतीय माल की अदायगी के रूप मे ओगस्तस से लेकर रोमन सम्राटो के दौरान जो रोमन मुद्राए भारत आती रही, उनके जखीरे भारत मे प्राप्त हुए है जिनमे से कुछ कोरोमण्डल तट पर मिले है। रोम के दीनार के इस देश मे प्रचलन की चर्चा समसामयिक साहित्य मे, कालिदास की कृतियो तक मे, सुलभ है। फल यह हुआ कि रोम के प्रारम्भिक सम्राटो के समकालिक कुषाण सम्राटो के सिक्को पर रोम के मानदण्डो का प्रभाव पडा। ये सिक्के अपने स्वर्ण तत्व मे समृद्ध हुए और वजन मे भी भारी बने। यह महत्वपूर्ण है कि कदफीसस् प्रथम के एक किस्म के सिक्को पर एक रोमन चेहरा अकित है और कनिष्क ने अरा के शिलालेख मे अपने को "कैसरस" (सीजर) कहा है। कुषाण और रोमन सिक्को के मिले-जुले जखीरे या उन दोनो को मिला-जुला कर बनाये गये हार प्रकाश मे आये है।

भारतीय राजदूत रोमन सम्राटो को मूल्यवान उपहार देने मे एक-दूसरे मे होड किया करते थे। ३३७ ई मे जब उनमे से एक कोस्तातीन के पास पहुचा तो उसने अपने उपहार को अतिशयोक्ति मे "सम्राट् की प्रभुसत्ता का अपने महासागर तक" होने का बखान किया। सम्राट् को बताया गया कि भारतीय शासक उनके चित्र बनवाते और मूर्तिया गढवाते थे तथा उनको समर्पित करते थे। भारत के पश्चिमी तट पर

रोमन बस्ती में बने एक मन्दिर में सम्राट् ओगुस्तस् की मूर्ति प्रतिष्ठित होने की रोमन और यूनानी लेखकों ने साक्षी दी है, उससे भी यह बात स्पष्ट होती है।

पाम्पेई के खण्डहरों से खोद निकाली हाथीदांत की यक्षी मूर्ति निश्चय ही ७९ ई. में हुए इस नगर के महानाश से पहले वहां पहुंची होगी। इससे ईसा की प्रथम शताब्दी की कुषाण यक्षियां पाम्पेई में प्राप्त मूल्यवान रोमन सामग्री से जुड़ जाती हैं। मध्य एशिया में एक भारतीय बस्ती से खरोष्ठी में एक रोमन चित्रकार के हस्ताक्षर प्राप्त हुए हैं जिसने अपने भित्ति-चित्र पर हस्ताक्षर कर कहा था : "यह तीत की कृति है जिसने इसके लिए ३,००० मुद्राएं प्राप्त की।" तमिल साहित्य में रोमनों यानी यवनों के ऐश्वर्यपूर्ण भवनों का वर्णन मिलता है। मदुराई के गढ़ में रोमन सिपाही रहते थे और वे महलों और युद्ध क्षेत्र में खेमों के अंगरक्षक के रूप में तमिल राजाओं की सेवा करते थे। वे अत्यन्त कुशल कारीगर भी माने जाते थे जिनके लिए यंत्र-निर्माण और धातु की मूर्तियां ढालने का काम आसान था।

यूनानियों को, और कभी-कभी रोमनों को, यवन कहा जाता था। तमिल राजाओं के महलों में काम करने वाले यवन रोमन थे। नदियों के मुहानों और पश्चिमी तट पर उनकी बस्तियां होने के अतिरिक्त वे जहाजों के हर फेरे के साथ यहां आते थे और शायद दक्षिण के तटों तथा दरबारों में काफी संख्या में मौजूद थे। यह स्वाभाविक ही था कि उन्होंने भारत की चिर गुणग्राही संस्कृति में अपना योगदान किया।

●

: ७ :

शक

हिन्दी-यूनानियो के बाद जिन जातियो ने भारत के इतिहास को प्रभावित किया उनम शक, पह्लव, कुषाण, आभीर और गुर्जर प्रमुख है। इन सभी ने ई पू प्रथम शताब्दी के लगभग भारत मे प्रवेश किया और आते ही इस देश के राजनीतिक एव सास्कृतिक जीवन को अपने अनुकूल बनाने का काम आरम्भ कर दिया। राजनीतिक रग-मच पर आभीरो और गुर्जरो का उदय कुछ विलम्ब से ही हुआ था परन्तु जनसाधारण के सामाजिक जीवन पर उनके आगमन के प्रभाव के लक्षण भी जल्दी ही दिखायी पडने लग थे। भाषा पर तो उनका प्रभाव तत्काल ही दिखायी पडा और आभीरी तथा गुर्जरी नामक दो प्राकृत भाषाओ का तो नाम ही उन पर पड गया। गुर्जरो ने तो पश्चिमी भारत की भाषा क विकास मे एक नये युग का श्रीगणेश करने के साथ-साथ गुजरात के अतिरिक्त अनक प्रदशो और क्षेत्रो को अपना नाम दिया। आभीरो व गुर्जरो दोनो ने ही अपने-अपने साम्राज्य की स्थापना की। इसका उल्लेख आगे उपयक्त सदर्भ मे किया जायगा। इस अध्याय मे हम केवल शको और उनके कार्यो की चर्चा करग। हम यहा इस पर भी विचार करेंगे कि भारत के सर्वसाधारण, उसके इतिहास तथा सस्कृति पर उनका क्या प्रभाव पडा।

शक मध्य एशिया के लूटमारू कबीलो मे बडी ही महत्वपूर्ण और प्रभावशाली जाति के थे। मेसोपोतामियाई, हखमनी, और यूनानी ग्रथो से यह स्पष्ट पता चलता है कि ई पू दूसरी सहस्राब्दी से ई पू दूसरी शताब्दी तक ये तमाम मानवी कार्यकलाप पर हावी रहे। इतिहास की इस लम्बी अवधि मे यह खाना-बदोश जाति निरतर अशान्त बनी रही। वह कभी इधर छापा मारती, कभी उधर। कभी इसको लूटा कभी उसको बर्बाद किया। उसने पूर्व मे चीन की सीमा से लेकर पश्चिम मे दानूब की घाटी तक

प्रत्येक सभ्यता का उच्छेद किया और तमाम राष्ट्रों को बड़ी निर्दयता-पूर्वक रौंद डाला। कभी शक अलताई में होते, कभी अगला पड़ाव रूस के घास के मैदानों में डालते, कभी कैस्पियन सागर के तटवर्ती इलाके में। अन्त में सीर दरिया से लगे विस्तृत इलाके के भी उस पार, सोग्दियाना से भी परे, पारासुगदम् में जा पहुंचे। दारा के शिला-लेखों में शक जाति को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है अर्थात्, शक तीग्रखण्ड (नोकदार शिरस्त्राणों वाले), शक हौमवर्ग और शक तारद्रय (समुद्र पार वाले)। इनमें से पहले वर्ग अर्थात् नुकीले शिर-स्त्राणों वाले शक सुग्द (सोग्दियाना, आधुनिक बुखारा) के उस पार बैक्त्रयाइयों के पड़ोसी बन कर रहते थे। ये अपने तम्बू सीर दरिया पार और उस शहर के इर्द-गिर्द बड़ी ही तरतीब से लगाते जिसे आज-कल तुर्किस्तान कहते हैं। हौमवर्ग हेलमन्द की घाटी में द्रंगियाना में बसे थे जिसका नाम आगे शकस्तान (सिजिस्तान, सेइस्तान) पड़ा। तारद्रया शक काले सागर के उत्तर में रूस के घास के मैदानों के रहने वाले थे।

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में शक्तिशाली खानाबदोश युएह्-ची कबीले के एक विशाल गिरोह ने शकों पर जोरदार आक्रमण कर उनको सीर दरिया के कांठे से खदेड़ दिया और आमू दरिया तथा उससे भी परे किपिन की ओर भगा दिया। आमू पार पूर्वी ईरान में पार्थियनों का महान् साम्राज्य खड़ा था। इस साम्राज्य और शकों में बड़ा दुर्धर्ष संघर्ष छिड़ गया जिसमें बहुत से लोग खेत रहे और ईरान के दो शक्तिशाली नरेशों फ्रातस् द्वितीय (१३८-१२८ ई. पू.) और आर्त-बानुस प्रथम (१२८-१२३ ई. पू.) को अपने प्राण गंवाने पड़े। परन्तु उनके उत्तराधिकारी मिथ्रदातिज द्वितीय ने शकों की बाग रोक दी और वे हिन्दूकुश पर्वत की ऊंचाइयों से बचते हुए, जो उन दिनों हिन्दी-यूनानियों के कब्जे में था, दक्षिण-पश्चिम की ओर निकल गये।

सेइस्तान (शकस्तीन, शकस्तान) में ही शकों को एक भारतीय जैन आचार्य कालक से भारत पर आक्रमण करने का वैसा ही निमंत्रण मिला जैसा राणा सांगा और दौलत खां लोदी ने बाबर को कालांतर में भेजा। भारत में राष्ट्र के साथ गद्दारी की कहानी उसी समय से शुरू होती है जब पोरस ने, जिसे सिकन्दर ने हरा कर पुनः सत्ता सौंप दी थी, कठोपनिषद् के रचयिताओं और पराक्रमी गणतंत्रवादी कठों (यूनानी इतिहासकारों के अनुसार कठोइयों) के खतरे से सिकन्दर को उबारने

के लिए, जिसका भाग्य उस समय कच्चे धागे से बधा प्रतीत होता था, अपनी सेना लेकर कूच कर दिया था। लगभग बारह शताब्दियों बाद आनन्दपाल साहिय के अधीन महमूद से लडती हिन्दू राजसघ की सेनाओ के साथ ही धारा-नरेश भोज की सेनाओ की भी पराजय हुई। तब धारा का यह वीर अहिलवाड पर जा टूटा जब उसका शासक थार के रेगिस्तान मे मुसलमानो से जूझ रहा था और उसने अहिलवाड को तहस-नहस कर डाला।

सेइस्तान मे खतरा इतना बढ गया था कि शको को आचार्य कालक का निमत्रण डूबते को तिनके के सहारे के समान लगा और उन्होने उसे हाथ से जाने न दिया। उनके दल के दल भारत की सीमा की ओर बढ चले जिनमे मुख्य परिवारो की सख्या छियानबे थी और शप उनके असख्य अनुगामी थ। उनको कोई सुरक्षित स्थान और कालक को उज्जैन नरेश गर्दभिल्ल से प्रतिशोध चाहिए था। गर्दभिल्ल ने उसकी रूपवती सन्यासिनी बहन के साथ बलात्कार किया था। शक समस्त सिन्ध प्रदेश मे छा गये, और पेरीप्लस के शब्दो मे, उन्होने शकस्तान की तरह उस नये प्रदेश का नाम भी शकद्वीप रख दिया जहा से सिन्धु नदी बहती है। उन्होने तत्काल सुराष्ट्र और गुजरात, काफिरिस्तान तथा गाधार पर विजय प्राप्त कर ली और कुछ समय के लिए मालवा तथा उज्जैन पर भी अपना आधिपत्य जमा लिया। विक्रम के हाथों पराजित होने के बाद, जो कदाचित उस समय मालव जाति का प्रमुख था, उन्होने अपने नये देश के पाच केन्द्रो मे अपने पाव जमा लिये और वही से वे अपना शासन-कार्य चलाने लगे। सिध, तक्षशिला, मथुरा, मालवा और महाराष्ट्र उनके व्यापक साम्राज्य के केन्द्र बन गये।

भारतीय साहित्य मे शको का उल्लेख उसी रूप मे हुआ है जिस रूप मे यवनो, पहलवो, पारदो, आभीरो और चिनो (चीनियो) आदि अन्य विदेशियो का। **रामायण**, **महाभारत**, **मनु-सहिता** और **महाभाष्य**, सभी मे इनका उल्लख आया है। **हरिवश** का कथन है कि वे आधा सिर मुडाते थे और **कालकाचार्यकथानक** मे उनके शासक को "साही" सज्ञा दी गयी है। मनु ने बाद मे उनको हिन्दू-वर्णाश्रम धर्म मे भी सम्मिलित कर लिया यद्यपि यवनो, पहलवो और पारदो जैसे हीन-क्षत्रियो के रूप म। उन्होने अन्तर्जातीय विवाहो और उनके परिणामो, सकर-जातियो के उदय, और जाति हीन यवनो, शको, चिनो, पहलवो, द्रविडो आदि व्रात्यो के सिदधान्त का प्रतिपादन किया। चूकि भारत मे प्रवेश करने वाली जातियां

विजेताओं के रूप में आयी थी, उनकी अवहेलना अथवा अपमान संभव नहीं था और उनको प्रायः क्षत्रियों के समकक्ष स्थान देना पड़ा। परन्तु कुछ समय तक उनको समाज में पूरी तरह आत्मसात् करना भी सम्भव नहीं था, और वे मुख्यतः अभिजात शासक-वर्ग के रूप में स्थापित हो गये। इसीलिए, ये वैराग्य पर आधारित बौद्ध, शैव एवं वैष्णव मतों की ओर अधिक आकृष्ट हुए। वैष्णव-धर्म का आधार बड़ा ही व्यापक था और उसके सबसे लोकप्रिय पक्ष पर कृष्ण का प्रभाव था, जो न केवल पुरोहितवाद और कर्मकाण्ड से परे था (उसे इन्द्र का वैरी भी घोषित कर दिया गया था जिसे वे सभी देवताओं से ऊपर मानते थे) बल्कि जिसे ग्वालों की नगण्य जाति का भी बताया गया था। बाद के साहित्य में उसे अहीर (आभीर) मान लिया गया जो विदेशी जाति थी। शैव मत, जिसके परम आराध्य भगवान शिव श्मशान-भूमि में रहते थे और अघोरियों जैसे कर्म करते थे, उन लोगों को आकृष्ट और प्रभावित किये बिना न रहा जो धर्मशास्त्रों का अनुकरण करने और स्मृतियों के विधानों का पालन करने में असफल रहे थे। पतंजलि का महाभाष्य, जो सनातन ब्राह्मणवाद की पुनःस्थापना का हामी और ब्राह्मण-विरोधी अशोक की विचार-धारा का अन्त करके ब्राह्मण साम्राज्य की स्थापना करने वाले ब्राह्मण सेनानायक पुष्यमित्र का घोर समर्थक था, शकों को क्षत्रियों के रूप में स्वीकार नहीं कर सका। उसने उनको शूद्र कहा है, हालांकि स्मृतियों में उल्लिखित मूल शूद्रों से उनको उसने भी भिन्न माना है। उसने शकों को "अनिर्वसित" शूद्र माना है जब कि साधारण शूद्र "निर्वसित" (अस्वच्छ) माने गये हैं। शक ऐसे शूद्र थे जो समाज के भीतर रहते थे, जब कि साधारण शूद्र अस्वच्छ होने के कारण समाज से बाहर रहते थे।

हिन्दू जाति में शकों का समावेश आसानी से नहीं हो सका होगा। स्मृतियों और जातिगत नियमों के रचना-कारों के वे इतने निकट थे कि अग्निदीक्षा द्वारा उन्हें अग्निकुलीय राजपूत राजवंशी करार दिये जाने पर भी क्षत्रिय मानना सम्भव नहीं हुआ होगा। धीरे-धीरे जब उन्होंने भारतीय देवी-देवताओं और धर्मों को स्वीकार कर लिया होगा, अपने को उनमें से कुछ का संरक्षक बना लिया होगा, यहां तक कि सूर्य की प्रतिमाओं की पूजा जैसी अपनी स्वतन्त्र विधियां चला दी होंगी और भारतीय नाम रख कर तथा शादी-विवाहों द्वारा वे यहां के समाज में इस कदर घुल-मिल गये होंगे कि उनका पृथक्

अस्तित्व ही नहीं बचा होगा (रुद्रदामन् ने अनेक स्वयवरो मे भाग लिया था और अनेक राजकुमारियो से विवाह कर लिया था। अनेक कार्दमक शक ललनाओ ने सातवाहनो, इक्ष्वाकुओ और लिच्छवियो मे विवाह किये थे), तब कही ये भारतीय समुदाय मे घुल-मिल सके होगे।

शको का भारतीय जातियो मे घुल-मिल जाना किसी भी रूप मे शातिपूर्वक और अहिंसापूर्ण ढग से नही हुआ। उलट-फेर वाले इन दिनो का उल्लख शको के आगमन के लगभग सौ वर्ष बाद के एक ग्रथ मे मिलता है। यह है गार्गीसंहिता का युगपुराण जिसका उल्लख 'दुर्दमनीय पराक्रमी यूनानियो'' द्वारा पाटलिपुत्र की लूट के प्रकरण मे पहले ही किया जा चुका है। इस ग्रथ मे कहा गया है कि सनातन काल से चले आने वाले राजाओ का अन्त हो जायगा, प्रान्त बिखर जायेगे, जातिगत नियम छिन्न-भिन्न हो जायेगे और शूद्र और चाण्डाल ब्राह्मणो का सा आचरण करने लगेगे। दिमित्रियस् और मिनान्दर के नेतृत्व मे बैक्ट्रिया के यूनानियो ने जो लूट-खसोट मचायी थी उसका अन्त कुछ और क्रूर रक्त-चक्षु शक अम्लाट द्वारा राजधानी के नागरिको के नरसहार के रूप मे हुआ। उसके दुष्कृत्यो और नरसहार के बाद, उसने देश की जो दुर्दशा की थी, उसका विवरण देते हुए इस ग्रथ मे कहा गया है कि धरती से पुरुषो का अस्तित्व कुछ ऐसे ढग से विलुप्त हो गया था कि स्त्रियो को तलवार चलाने से लेकर हल चलाने तक के तमाम काम स्वय ही करने पडते थे और कई-कई स्त्रिया साथ मिल कर एक ही पुरुष से विवाह करने लगी थी। वास्तव मे पुरुषो का अभाव कुछ ऐसा बढ गया कि पुरुष कही देखने मे नही आते थे और जब भी कही कोई पुरुष नजर आता, स्त्रिया पुलक के साथ चिल्ला उठती थी, ''आश्चर्यम्! आश्चर्यम्!''

शको ने यह विध्वस निरर्थक ही नही किया था। बैक्ट्रिया के यूनानियो की तरह ही वे यहा बसने के लिए आये थे ताकि वे भारत मे जगह-जगह अपने आधिपत्य की स्थापना कर उन पर राज कर सके। उन्होने ऊपर लिखे राज्यो की स्थापना कर भी ली और यद्यपि उस उलट-फेर मे मगध का शासन कुछ समय के लिए सातवाहनो के हाथ मे चला गया था, भूमि उनके हाथ से छीन लेने मे शको को अधिक देर नही लगी। ''मारकण्डेय पुराण'' मे गगा की घाटी अर्थात मध्य-देश तक शको की बस्ती का उल्लेख आया है। यह निश्चय ही क्षत्रपियो की उन राजधानियो से पृथक् थी जिनकी स्थापना शको

द्वारा की गयी थी और जहां से वे एक ओर तो सातवाहनों के साथ और दूसरी ओर उत्तरकालीन गुप्तवंशीय राजाओं के साथ आजीवन संघर्षरत रहे। सातवाहनों ने न केवल उनसे मगध जैसा बहुमूल्य स्थान छीन लिया वरन् वे उनके जानी दुश्मन बन गये क्योंकि इन दोनों जातियों के राज्यों की सीमाएं परस्पर मिली थीं। उधर गुप्तवंश के राजाओं ने कुछ शताब्दियों बाद इनको विदेशी करार देकर देश से बाहर निकाल देना चाहा और उसमें वे सफल भी हो गये। ये दोनों ही वंश इस देश के धर्म के प्रतिपालक थे। सातवाहन स्वयं ब्राह्मण थे और गुप्तवंश के शासक ब्राह्मणवाद के संरक्षक थे।

शकों का विचार था कि वे अपने राज्य की सुरक्षा और अपने शत्रुओं से युद्ध करके क्षत्रियों की मान्यता प्राप्त कर सकेंगे और उनके धर्म तथा रीति-रिवाजों को अपना कर उनमें घुल-मिल जायेंगे। असूरियों और ईरानियों ने मिस्र पर अपना अधिकार तो जमा लिया था लेकिन वे उस पर अपना आधिपत्य बनाये रखने में असफल रहे थे। परन्तु यूनानी इस कारण सफल हो गये थे कि उनके राजा प्तोलेमियों ने स्थानीय देवी-देवताओं को स्वीकार कर लिया था। वे अपनी बहनों से मिस्री फराऊनों की ही भांति विवाह भी करने लगे थे। शकों ने भी इसी आचार-नीति का अवलंबन किया।

राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने अपने ईरानी प्रभुओं का सहारा लिया। भारत में प्रवेश करने से पूर्व ये ईरानी संस्कृति को मानते थे, और हिन्दूकुश के आगे के कुछ छोटे-छोटे राज्यों पर शासन करते समय पार्थियन शासकों को अपना स्वामी मानते थे तथा अपने आपको उनका "सत्रप" अथवा "क्षत्रप" अर्थात् वाइसराय या गवर्नर कहते थे। भारत में स्वतंत्र राज्यों पर शासन करते समय भी अपने पूरे शासन-काल में उन्होंने इन्हीं पद-नामों का प्रयोग जारी रखा—कुछ तो इसलिए कि फारस के ईरानी शासकों और भारत के पार्थियन शासकों से उनके संबंध अच्छे बने रहें और कुछ शायद इस कहावत को चरितार्थ करने के लिए कि "दूध का जला छांछ को भी फूंक-फूंक पीता है।"

शक जन-साधारण और शासक वर्ग दोनों ने ही बड़ी संख्या में पूजा की स्थानीय रीतियों व देवी-देवताओं को अपना लिया। ऐसे असंख्य शक स्त्री-पुरुष थे जो बुद्ध, शिव, विष्णु और सूर्य के उपासकों में घुल-मिल गये थे। ऐसे अनेक सत्र थे जहां शक पुरुष और उनकी स्त्रियां निःशुल्क भोजन और औषधियों का वितरण करती थीं। विष्णुदत्ता ने, जो शक थी, नासिक के पर्वतीय मठ के सन्यासियों

के उपचार के लिए औषधियों की व्यवस्था की थी। उनमें से काफी ऐसे थे जिन्होंने पूजन के लिए प्रतिमाओं की स्थापना करा दी थी और स्तूपों का निर्माण कराया था या अखण्ड-उपासना के लिए स्थायी धन दान दिया था। उन्होंने अपने नाम भारतीय रख लिये और जिन लोगों ने अपने ईरानी नामों के अवशेष रहने भी दिये, उन्होंने अपने नाम कुछ इस ढंग से रखे कि वे अभारतीय प्रतीत नहीं होते थे। प्रभुदामा, मरुण्डस्वामिनी, विष्णुदत्ता-दक्षमित्रा नाम कुछ शक स्त्रियों के हैं और पुरुषों में शर्वनाथ, ऋषभदत्त (प्राकृत उसवदात), विश्ववर्मन, अग्निवर्मन्, जयदामन्, रुद्रदामन उल्लेखनीय हैं। पश्चिम के क्षत्रपों ने भी भारतीय नाम रख लिये थे।

शकों ने केवल भारतीय धर्मों और सम्प्रदायों को ही अंगीकार नहीं किया वरन् नये धर्म सम्प्रदाय बनाये और नये देवी-देवताओं की उपासना आरम्भ कर दी। मथुरा के संग्रहालय में लाल पत्थर की ऐसी अनेक प्रतिमाएं रखी हैं जो पहली से तीसरी शताब्दी ईसवी तक की हैं। इनमें से कुछ सूर्य की हैं जो चार अश्वों के रथ में बैठी दिखायी गयी हैं। उनके दोनों हाथों में कमल की एक एक कली है और उनके कन्धों पर सूर्य पक्षी गरुड जैसे दो छोटे छोटे पंख लगे हुए हैं। उनका शरीर "औदिच्यवेश' अर्थात ईरानी ढंग की पगड़ी, कामदानी के चोगे और पाजामे से ढका है और वे ऊंचे ईरानी जूते पहने हुए हैं। उनकी वेश-भूषा बहुत कुछ शक सैनिकों अथवा कुषाण सम्राट् कनिष्क की शिर-विहीन प्रतिमा जैसी है। सूर्य की उपासना हेतु तैयार की गयी इस प्रकार की प्रतिमाएं भारत में इस काल से पहले देखने में नहीं आती। हो सकता है कि भारत में शकों ने ही प्रतिमा के रूप में सूर्य की उपासना का प्रचलन किया हो। हमें यह तो ज्ञात है कि वैदिक धर्म में सूर्य को उसके प्राकृतिक रूप में आदरणीय माना जाता था और ऋग्वेद में उसकी प्रशंसा में अनेक ऋचाएं भी कही गयी हैं, परन्तु अब उसकी कल्पना मानवरूप में की गयी थी, मूर्ति की उपासना के विचार से नहीं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत में ये सूर्य की सबसे पहले पायी जाने वाली मूर्तियां हैं। कुषाणों से पहले सूर्य की कोई प्रतिमा नहीं मिली है। धोती पहने, उत्तरीय ओढ़े और किरीट धारे खड़े सूर्य की प्रतिमाएं (जिनमें उन्हें कमल दल धारण किये हुए, अथवा कुहनियों पर से बाहुएं मोड़े दोनों हाथ ऊपर उठाये कमल दलों का स्पर्श करते हुए दिखाया गया है) बाद के मध्य काल में आयीं। भारत में पहले सूर्य के मन्दिर कुछेक ही थे, कश्मीर

में मार्तण्ड मन्दिर, उड़ीसा के कनारक में कोणार्क का मन्दिर, उत्तर प्रदेश के बहराइच में बह्ल्वार्क का, राजस्थान में कसिया का और कुछ ही अन्य मन्दिरों का हमें उल्लेख मिलता है (भाजा की दीवारों और अन्य स्थानों पर तो केवल उनकी उभरी हुई आकृतियां ही पायी जाती हैं) और ये निश्चित रूप से बाद की बनी हैं। तब प्रतिमा के रूप में सूर्य की उपासना किसने आरम्भ की ? निश्चय उन्होंने जिन्होंने अपनी जैसी वेशभूषा में उसकी प्रतिमा बना कर हमें दी। यह बात अकारण नहीं कि भविष्य, शाम्ब, वराह तथा अन्य पुराणों में सूर्य की उपासना और सूर्य के प्रथम मन्दिर की स्थापना शकद्वीप अर्थात् सिंध के मुलतान स्थान में बतायी गयी है जहां शकों ने भारत में प्रवेश करके अपनी बस्तियां बसायी थीं। पौराणिक ख्यातों के अनुसार जब कृष्ण के पुत्र शाम्ब ने (कुछ उन्हें पौत्र भी मानते हैं) चन्द्रभागा (चिनाब) के तट पर सूर्य के प्रथम मन्दिर का निर्माण कराया तब उनको प्रतिमा की स्थापना और उपासना के लिए पुरोहित नहीं मिल रहे थे, क्योंकि किसी को उस पूजा का विधान ज्ञात नहीं था और उनको उसी प्रकार सूर्य और अग्निपूजक शक-पुरोहितों को बुलाना पड़ा जैसे ऐसे ही अवसर पर (प्रलय-कथा में) मनु ने असुरियाई पुरोहितों को बुलाया था (असुर-ब्राह्मण इति आहूतः)। इसलिए यदि बाहर से बुलाये गये शकद्वीपी ब्राह्मणों को आज तक विदेशी समझा गया है और उत्तर भारत के ब्राह्मण यदि उनका छुआ पानी तक नहीं पीते तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। शक और कुषाण सूर्यपूजक थे। कनिष्क के सिक्कों पर सूर्य और चन्द्र की आकृतियां अंकित मिलती हैं। भारत में उन्होंने ही सूर्य की प्रतिमा की उपासना का चलन आरम्भ किया और उन्होंने ही सूर्य को वेशभूषा भी वैसी दी थी जैसी वे स्वयं धारण करते थे।

शकों में ज्योतिष भी इसी प्रकार लोकप्रिय हो गया। यूनानियों ने यद्यपि बाबुलियों से सीख कर यहां ज्योतिष का प्रचलन किया था, शकों के शासन-काल में ही उसको राजकीय संरक्षण और मान्यता प्राप्त हो सकी। मालवा के शक शासकों ने उज्जैन को भारत का "ग्रीन-विच" बना दिया और यह नगर यूनानियों की इस विद्या के अध्ययन और संवर्धन का केन्द्र बन गया। ध्यान देने की बात है कि गुप्त-काल में वैज्ञानिक आधार पर सर्वप्रथम ज्योतिष-ग्रन्थ पंचसिद्धान्तिका के रचनाकार (जिसमें रोमक, पौलिश और सूर्य के तीनों सिद्धान्तों का समावेश था और यवनाचार्य को ज्योतिषविद्या का बड़ा विद्वान कहा

गया) वराहमिहिर सभवत स्वय शक थे। यदि नाम से किसी की राष्ट्रीयता प्रकट हो सकती है तो इनका नाम आधा फारसी था।

शक लोग भारत के सास्कृतिक जीवन मे बडे ही सहायक सिद्ध हुए। जहा ये भूमि के लिए सातवाहनो और अन्य जातियो के साथ सघर्ष करते रहे, वही उन्होने बडे परिश्रम और निष्ठा के साथ भारतीय साहित्य और कला को विकसित करने के लिए उन्हे सरक्षण प्रदान किया। साहित्य को उनसे बडा प्रश्रय मिला। उज्जैन म उनका क्षत्रप रुद्रदामन् स्वय व्याकरण, काव्यशास्त्र, सगीत और नीतिशास्त्र का पडित था और सस्कृत गद्य-पद्य की रचनाओ मे तो वह अपना सानी ही नही रखता था। उसने गिरनार पर्वत के अपने अभियानो का शुद्ध सस्कृत मे इतना सुन्दर विवरण लिखा है कि ब्राह्मणो और आरण्यको के बाद उसको सर्वश्रेष्ठ गद्य रचना माना जाता है। महत्व की बात यह है कि विदेशी और म्लेच्छ होते हुए भी शको ने यह सभव किया जबकि आन्ध्र-सातवाहन ब्राह्मण होते हुए भी अपने अभिलख प्राकृत म ही लिखत रहे, सस्कृत मे उन्होने उन्हे कभी नही लिखा। इस प्रकार सस्कृत भाषा का प्रसार करने मे एक ओर शक शुग लोगो के साथ होड करते रहे थे, दूसरी ओर वे गुप्तवशीय राजाओ के सस्कृत सरक्षण से भी किसी तरह पीछे नही थे। यह इन विदेशी शको का ही काम था कि भारत मे १५० ईसवी मे ही सस्कृत की शास्त्रीय गद्य शैली विकसित हो सकी थी।

ज्योतिषविद्या की तरह ही, कला के क्षेत्र मे विख्यात ग्रैको-भारतीय शैली, जिसे भारतीय कला मे गाधार-शैली की सज्ञा दी गयी है, का आरम्भ भी यूनानियो ने ही किया था, परन्तु उसको विकसित करके प्रचलित करने का काम शको और कुषाणो को ही करना पडा। परिणाम यह हुआ कि सर्वश्रेष्ठ कला-कृतिया पहली से तीसरी सदी ईसवी के दौरान ही बनी और मथुरा से ले कर तुन-हुआग तक एक ही प्रकार की कला-कृतियो की परपरा खडी हो गयी।

शको ने इस देश मे ईरानी वेश-भूषा चलाने का भी प्रयास किया। कुषाणो ने भी उनका प्रचलन जारी रखा। हो सकता है कि राजघरानो के कुछ लोगो और कुछ सरदारो ने ईरानी पगडी, कुर्ता, चोगा, सलवार और ऊचे जूते पहनना स्वीकार भी कर लिया हो और कुछ स्त्रिया कुर्तिया (ब्लाउज) और गरारा (स्कर्ट) पहनने लगी हो (लखनऊ के सग्रहालय मे रौलिग का एक स्तम्भ प्रदर्शित है जिसमे इसी प्रकार की पोशाक पहने एक स्त्री हाथ मे मशाल लिए जाती दिखायी गयी है),

परन्तु स्पष्ट है कि यह परिधान लोकप्रिय नहीं हो सका। बाद में मुगलों ने फिर इस प्रकार के परिधान का प्रचलन किया जिसमें अवध के नवाबों ने चार चांद लगा दिये। भारत ने अचकन और पाजामे को राष्ट्रीय लेबास घोषित कर दिया है और भारतीय राजदूत विदेशों के राष्ट्रपतियों को अपना परिचय-पत्र पेश करते समय यही पोशाक पहनते हैं।

भारत में सती प्रथा प्राचीन काल से ही प्रचलित थी परन्तु उसे शकों से भी समर्थन मिला। यह इसलिए कि उनके यहां भी पति के अवशेष के साथ पत्नियों को जला डालने की प्रथा आम थी। रूस के घास के मैदानों में वे जिस प्रकार का अमानुषिक विध्वंस करते थे, यदि उसके साथ इसकी तुलना की जाय तो यहां आकर उनकी इस पैशाचिक प्रथा की भयावहता कुछ घट ही गयी थी।

इस देश का सबसे महत्वपूर्ण युग, विक्रम के अतिरिक्त, शकों के नाम के साथ ही जुड़ा है। इसकी स्थापना ७८ ईसवी में कुषाणों के कनिष्क ने की थी, परन्तु इसका नाम शकों पर शक-संवत् ही चल पाया क्योंकि सबसे लम्बी अवधि तक इसका प्रयोग उन्होंने ही किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि शक संवत् हमें विक्रमी की तुलना में अधिक परिचित सा लगता है, और इसे शायद "विक्रमी" से अधिक पवित्र माना जाता है और पंचांगों, तिथिपत्रों और जन्म-कुण्डलियों आदि में भी "राष्ट्रीय" विक्रमी के स्थान पर प्रायः इसका ही प्रयोग अधिक नियमित रूप से सदियों होता आया है। भारत सरकार ने भी अपने कागजों पर इसी संवत् का उल्लेख करना उचित समझा और इस प्रकार शक संवत् को राष्ट्रीय संस्था का रूप दे दिया।

शकों ने बड़ी संख्या में इस देश में प्रवेश किया था। पहली बार आने वाले उनके परिवारों की संख्या पारम्परिक रूप से छियानवे बतायी जाती है और सातवाहनों के हाथों पराजित होने तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा खदेड़े जाने के बावजूद ऐसा प्रतीत नहीं होता कि प्रत्येक शक को देश से बाहर निकालना संभव हो सका हो। निःसंदेह उनमें से अधिकांश यहीं रह कर जनसाधारण में घुल-मिल गये। यहां उनके मिश्रण से नयी नस्लें पैदा हुई और उन्होंने स्थानीय साहित्य, कला और विज्ञान को प्रभावित किया और हमारी मिली-जुली संस्कृति पर गहरी छाप छोड़ी, उसका नये सिरे से निर्माण किया। वे सातवाहनों और गुप्तवंशी राजाओं दोनों से ही पराजित हुए यद्यपि गुप्तवंश पर वे कुछ काल हावी हो गये थे जब उन्होंने रामगुप्त को अपनी रानी

उन्हें सौंप देने के लिए बाध्य कर दिया था, और बुझती हुई लौ की अंतिम लपक के रूप में बंगाल में अपना अंतिम निर्णयकारी और विनाशकारी युद्ध लड़ा था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उनको गजरात और मालवा से खदेड़ दिया और विदिशा के निकट उदयगिरि की एक गुफा में इस घटना को एक लेख में अंकित करा दिया जिसमें प्रतीक्त वाराह की आकृति भी उभारी गयी और उसके द्वारा विदेशी शक हिरण्याक्ष के चंगुल से भारत की पावन धरती की मुक्ति दिखायी गयी। शकों ने भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर जाकर शरण ली जहां उनके अभिजात वर्ग की तूती बोलती थी। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ पर अंकित लेख में उसके सहायकों में शाहीशाहानुशाही-शकमुरुण्डों का उल्लेख है। ये शाही, और 'शाहानुशाही'' के फारसी पदवीधारी शक और कुषाण सरदार महमूद गजनी के समकालीन प्रसिद्ध साहियों (अलबरूनी के तुर्क और हिन्दू साहियों) के रूप में लम्बे अर्से तक काबुल घाटी के स्वामी बने रहे थे। इन्हीं शक और कुषाण साहियों के वंशज, जिन्हें 'दशभक्त'' सातवाहनों और गुप्त राजाओं ने म्लेच्छ विदेशी कह कर इस पावन भूमि को छोड़ने पर बाध्य किया था, साठ पीढ़ियों तक बहादुर पहरुओं की तरह भारत के पश्चिमी सिंहद्वार की रक्षा करते रहे थे। जब आक्रमणकारी मुस्लिम सेनाओं का सामना करने के लिए गये राजा की अनुपस्थिति में अहिनलवाड़ में हमारे परम सम्मानित राजा भोज लूटमार कर रहे थे तब भारत के प्रवेश द्वार के बहादुर रक्षक और हिन्दूकुश के निर्भीक प्रहरी देश की पहरेदारी पर डटे सीमा के शक्तिसम्पन्न बैरियों से जूझने में लगे थे जो बाद में लुटेरे कबीलों की बाढ़ में विलीन हो गये। उन्होंने अपमान का जीवन बिताने के बजाय चिता पर जल कर मर जाना ज्यादा अच्छा समझा।

●

: ८ :

कुषाण

शक और कुषाण ऐसे दो कबीलो के जाति-सूचक नाम थे जिन्होने दो भिन्न कालों में भारत में प्रवेश किया और भारत के इतिहास और संस्कृति में युग-निर्माण किया। इनमें से पहला संस्कृति से ईरानी था और दूसरा जाति से तुर्क जो चीन के सीमान्त प्रदेश से आया जहां वह विशाल युएह्-ची की एक शाखा के रूप में रहता था। शक लोग कैस्पियन सागर के आसपास स्तेपी क्षेत्र के कबीलाई थे जिन्होने आगे चल कर ईरानी संस्कृति अपना ली थी। दोनों ही एक समय आमू दरिया की उपजाऊ घाटी में रहे थे और दोनों ही ईरानी राजाओं से लड़े थे। कोई आश्चर्य नहीं कि अक्सर उन्हें एक ही कुल के कबीले मानने की गलती की जाती है, जब कि वे सर्वथा भिन्न कुलों के थे।

युएह्-ची ने ऊपरी इली के क्षेत्र में और सीर दरिया के मैदानों में शकों पर हमला किया और उनको किपिन, कपिसा, लम्पक और गांधार की ओर भागने के लिए विवश किया। भारतीय परम्परा के अनुसार, जिनमें से भारतीय इतिहासकार कल्हण के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विवरण राजतरंगिणी में सुरक्षित है, उन्हें तुरुष्क (तुर्क) कहा गया है। एक प्राचीन अनुश्रुति के आधार पर निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए अलबेरुनी ने लिखा है कि कुषाण तिब्बती मूल के तुर्क थे। इनमें से पहला व्यक्ति, बरहतकिन, काबुल आया और एक गुफा में रहने लगा। वह तुर्क वेशभूषा में था—एक छोटी सी मिर्जई जो सामने से खुली थी, ऊंचा टोप और ऊंचे जूते, और उसके पास हथियार भी थे। वह उस राजवंश का पहला राजा था जिसने काबुल के आसपास के क्षेत्र "अपने अधिकार में किये और उन पर काबुल के साहिय के नाम से हुकूमत की।" यह वेश-भूषा शक, सूर्य और कुषाण शासक कनिष्क की मूर्तियों में प्राप्त वेश-भूषा के समान ठहरती है। अलबेरुनी ने

अनजाने ही समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्थित स्तम्भ-लेख के वस्तुतत्व का हवाला दे दिया है जिसमें कुषाण राजाओं के अवशेषों को ''दैवपुत्र शाहिशाहानुशाही'' कहा गया है। उन्होंने काबुल पर अधिकार किया और बाद में, साहिय राजाओं के रूप में, इस भूमि के रक्षक की भूमिका अदा की फिर नये आने वाले तुर्कों से आखिरी दम तक लडाई लड़ी, यद्यपि वे भारतीय इतिहास के पहले तुर्कों के वशज थे।

कुषाण काल (प्रथम सदी ई पू से तीसरी सदी ईसवी तक) शकों की भांति, स्थानीय शुगों और गुप्तों (नाग भी) के बीच का युग है, जिसमें एक ऐसी उल्लेखनीय कालावधि का निर्माण हुआ जिसकी परिणति पश्चिम और पूर्व के बीच अपूर्व सास्कृतिक समन्वय और सयोग में हुई। मध्य एशिया से चीन की सीमाओं तक का क्षत्र, पूरा अफगानिस्तान, कश्मीर और पजाब और उत्तर प्रदेश के अधिकाश भाग कनिष्क के आधीन थे। उसके एक गवर्नर ने बनारस के निकट मिर्जापुर में अपना दरबार लगाया था। कहा जाता है कि महान सम्राट् कनिष्क कवि तथा दार्शनिक अश्वघोष को पाटलिपुत्र से जबरन खींच लाया था ताकि कश्मीर में उसके द्वारा आयोजित बौद्ध परिषद का अधिवेशन सफल हो सके। इस प्रकार उसका राज्य पश्चिम में खुरासान से पर्व में बिहार तक और उत्तर में खोतान से दक्षिण में कोंकण तक फैला हुआ था।

इसीलिए कनिष्क को सर्वधर्मोन्मुखी होने की आवश्यकता थी और वह था भी ऐसा और उसने विभिन्न मध्य एशियाई देवताओं को अपने सिक्कों पर अकित किया, जो गुप्त राजाओं के लिए आदर्श बने और उन्होंने इनकी नकल की (गुप्त राजाओं ने सौराष्ट्र में शकों के सिक्कों की भी नकल की, उन्हें पुन ढाला और उनका आकार एव मौलिकताए बरकरार रखी)।

उसके अभिभावकत्व में सर्वास्तिवादी शाखा के महान दार्शनिकों ने कार्य किया और विवादग्रस्त सिद्धातों का निराकरण विभाषा शास्त्र नामक बृहत टीका की रचना करके किया। इस टीका को बडे-बडे लाल ताबे के पत्रों पर खुदवा कर एक स्तूप में बद करके रखा गया जिसका निर्माण शायद कनिष्क ने इसी उद्देश्य से कराया था। शायद उसी ने पूर्वी पजाब में चीनाभुक्ति (चीनियों की पहली बस्ती) बसायी जहा उसने अपने चीनी राजशाही बधकों को रखा, जिन्होंने भारत में आडू और नाशपाती की खेती शुरू करायी। (हमे पता नहीं कि ली-ची

जिसके लिए आज भी चीनी नाम ही प्रयुक्त होता है, भारत में कब पहले-पहल उगायी गयी।)

हम यह न भूलें कि *यूएह्-ची जो तुर्क-चीनी कबीला था और* जिसकी एक उपजाति किदार कुषाण—कनिष्क के नाते रिश्तेदार—थे, अंततः चीन के ही घुमक्कड़ राष्ट्र जन थे जो मूलतः उस विशाल देश के कान-सू प्रांत के निकटस्थ प्रदेश के थे। इसलिए यह निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि चीनियों ने भी अप्रत्यक्ष रूप से इस देश की महान् संस्कृति के निर्माण में योगदान दिया जैसा कि इस देश ने उनकी संस्कृति में दिया। स्पष्ट ही चीनियों द्वारा आविष्कृत *कुतुबनुमा, कागज और छापे की मशीन, बारूद और चाय के पीछे* ऐसी प्रतिभा रही है जो मानव प्रगति में योग देने वाले कदमों का अन्वेषण, रचना और आविष्कार करने में प्रवीण थी। उचित ही था कि कनिष्क ने देवपुत्र की उपाधि धारण की जो चीनी सम्राटों की परंपरागत उपाधि थी। पुनः, उसके सिक्कों का सार्वदेशिक स्वरूप जिन पर उसने यूनानी, मिथ्रई, जरथुस्त्री, बौद्ध और ब्राह्मण (हिन्दू) देवताओं को अंकित किया था (सूर्य और चंद्र उनके यूनानी नाम *हेराक्लीज और सेरापिस के नामों से, हेलियोस और सेलीन,* मीरो, आथ्रो, अग्नि, देवी ननैया, शिव तथा अन्य देवता) चीनियों की धर्म संबंधी सहिष्णुता का द्योतक है। ये देवता सुमेरी और एलामी से लेकर भारतीय तक थे, यानी वे अपने आकार-प्रकार और दिव्य रूप में उतने ही विभिन्न थे जितने कि उसके विस्तृत राज्य के लोग।

शक युग और इस सार्वभौम दृष्टिकोण के अलावा, इस महान् सम्राट् का नाम महायान शाखा से जुड़ा जिसने बौद्ध धर्म को उसका मूर्त देवता दिया और गांधार (यूनानी) कलाकार को प्रथम बुद्ध प्रतिमा बनाने का माडेल। शीघ्र ही भारत के मूर्तिकारों की छेनियों की चोटें गूंजने लगीं और देश के कला जगत् तथा मन्दिरों में, करोड़ों को स्वर्गिक सुख देने वाली तथागत की शांतिमय प्रतिमाओं का तांता लग गया। यह भारतीय कला में गांधार शैली का चरम क्षण था। इसकी स्थापना यूनानियों ने की थी मगर इसका विकास कुषाणों ने किया। कनिष्क की पूर्वी राजधानी मथुरा में जीवन की स्फूर्ति *और वैविध्य लहराने लगा।* जीवन के प्रति संयम की भारतीय प्रवृत्ति तोड़ कर आमोद-प्रमोद का जीवन फूल-फल उठा और अपार आनन्द का वातावरण छा गया। महायान ने हीनयान द्वारा जीवन पर

बांधी जंजीरें तोड डाली और यकायक जीवन आप्लावित हो उठा, हिलोरें लेने लगा और बह चला।

स्तूपो के स्तम्भो, रेलिंग स्तम्भो, दीवारो की ऊपरी पट्टिकाओ के ऊपर प्रेमी-प्रेमिका क्रीडा करते, जहा मनहर शालभजिका पेड की डाल झुकाये होती थी, मोहक यक्षी उन्मुक्त और निस्सकोच भाव से विश्राम करती थी, तृप्त गृहस्वामिनी अपना भरपूर सौष्ठव प्रस्तुत करती, युवती के पदचाप से अशोक की कलिया फूल बन कर दहक उठती, सुन्दरिया ईरानी वेश-भूषा धारण किये मशाल उठाये होती— ये सभी दर्शको मे सुखद अनुभूति पैदा करती।

बुद्ध की मूर्तियो मे सिलवटो की लकीरें और सूक्ष्म हो गयी जिससे पता चलता है कि बाद के गुप्तकालीन कलाकारो ने उनको और तराशा जिससे उनकी यूनानी शृखला की अतिम कडी मे मूल का आभास मात्र रह गया।

कुषाणो ने और उनके साथ शको ने, भारतीय सस्कृति को गद्य-शैली, खगोल विद्या, दीर्घजीवी शक सम्वत्, सूर्य प्रतिमा और कला की नयी धाराए, राष्ट्रीय भूषा का प्रारम्भिक रूप प्रदान किया। उन्होंने भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग, गुप्त वैभव के आगमन के लिए भूमि तैयार की।

और उस भूमि की रक्षा मे सदियो अपना खून बहाया जिसने उसे तिरस्कृत कर दिया था। इन्ही शाहियो ने सुबुक्त-गिन और उसके लडके महमूद के खिलाफ देशरक्षा के लिए सभी ताकतो को एकजुट किया और इस प्रकार भारत की मूल एकता तथा समान रक्षा व्यवस्था की आवश्यकता की ओर इगित किया। उन्होंने देश के इतिहास मे पहली बार राष्ट्रवाद का स्वर उठाया, जिसका समय अभी नही आया था।

इस विदेशी किन्तु स्थायी प्रभाव का एक पहलू था लोगो के सामाजिक दृष्टिकोण मे अतर (सदी ई पू २ सदी ई तक) आ जाना। जहा विदेशी भारतीय जीवन एव चिन्तन पद्धति की ओर आकृष्ट हो रहे थे, यहा का धर्म अपना रहे थे, एक तबका सामाजिक विधानो को नयी दिशा देने की ओर प्रवृत्त था। स्मृतियो और आचार-सहिताओ को पुन ढाला गया और जातियो की शुद्धता बनाये रखने के लिए—जो कि विजेता विदेशियो के लगातार आगमन से क्षत-विक्षत हो चुकी थी और आगे खतरा था—जात-पात के बधनो को कठोर कर दिया गया। अपनी परम्परागत जात से च्युत या कटे हुए

लोग, जिन्होने विदेशियो के प्रभावो या जीवन पद्धति से सम्बन्ध रखा था या उनके भक्त हो गये थे, और विजेता विदेशियो के भी छोटे पदों के लोग यती तथा अन्य ऐसी ही निम्नतर जातें और 'वर्णसंकर' अछूत माने गये। मनु ने इनका बड़ा सूक्ष्म वर्गीकरण किया जिनमे संख्यातीत लोगो को रखा है।

इसी जमाने मे बाल विवाह का प्रचलन स्वीकृत हो गया, ताकि युवा कन्याओ को विदेशी दस्युओ से बचाया जा सके क्योकि अनेक पत्नियो के भार से त्रस्त पिता की तुलना मे एक पत्नी वाले पति से नारी की रक्षा की अधिक आशा की जा सकती थी। लेकिन मुक्त मेल-मिलाप पहले ही से प्रचलित था यद्यपि नियम और अंकुश इसके विपरीत थे। कारण यह था कि विदेशी लोग विजेता के रूप मे और अधिकांशतः स्त्रियो के बिना आये थे, इसलिए उन्हे पराजितो के नियम कानूनो का कोई भय नही था। बहरहाल, भारतीय समाज मे विविध जातियां प्रविष्ट हुई और इसकी सामाजिक संरचना समृद्ध हुई।

इसका नतीजा था अगला युग, गुप्त सम्राटो का महान् स्वर्ण-युग। यह भारतीय सामाजिक इतिहास का एक अंत और एक आरंभ बिंदु, दोनो ही था। यह जीवन की गतिविधि के हर क्षेत्र के फलने-फूलने का युग था और हालाकि शूद्रो और अछूतो के विरुद्ध नियम कानून वैसे ही कड़े बने रहे, फिर भी सर्वमुखी सहिष्णुता उस युग का नारा बन गयी।

इस समय अनेक नये देवताओ की पूजा होने लगी, जिनमे ब्रह्मा, विष्णु और शिव अछूतो के प्रति भी दयालु थे, और जनता के साहित्य —पुराणो—ने निम्नजातीय चरित्रो का भी गुणगान किया तथा उन्हे स्वर्ग मे स्थान पाने की अनुमति दी।

कनिष्क ने बौद्ध धर्म तथा विद्वानो और साहित्यिक प्रतिभाओ को जो संरक्षण दिया, उससे उसका युग अभूतपूर्व सिद्ध हुआ। भारतीय इतिहास मे उसका पहला राजदरबार था जिसमे विभिन्न क्षेत्रो के विद्वान एकत्र किये गये। और यह जानकर कोई आश्चर्य नही होना चाहिए कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने कनिष्क और वासुदेव के राज-दरबारो के उदाहरणो के अनुसार अपना राजदरबार गठित किया था। अपनी कृति काव्यमीमांसा मे राजशेखर ने कुषाण राजा वासुदेव को उसके कवि दरबार का अध्यक्ष बताया है।

अशोक के अतिरिक्त और कोई भारतीय राजा बौद्ध धर्म का इतना

बडा सेवक नहीं हुआ जितना कनिष्क था। उसने महान् बौद्ध भिक्षु संघरक्षक को अपना धर्म-प्रधान बनाया और उनके तथा पार्श्व के निर्देशन में उसने श्रीनगर में इतिहास-प्रसिद्ध बौध परिषद बुलायी जसी कि अशोक के बाद फिर कभी नहीं बुलायी गयी थी, जिसके अध्यक्ष थ दार्शनिक वसुमित्र और उपाध्यक्ष भिक्षु-कवि तथा विचारक अश्वघोष। अश्वघोष अपने युग के सर्वाधिक उल्लेखनीय दार्शनिक होने के अतिरिक्त, वाल्मीकि के बाद, भारत के सर्वप्रथम महाकाव्यकार और नाटककार थे। बुद्ध के जीवनचरित सम्बन्धी उनका महाकाव्य **बुद्धचरित** और उनके भाई नन्द के जीवन सम्बन्धी महाकाव्य **सौंदरनन्द** तथा तीन नाटक, जिनमें शिरोमणि **सारिपुत्रप्रकरण** मध्य एशिया में तुरफान के खण्डहरों से खोज निकाला गया है, यूएह्-ची के तर्कीचीनी कबीले की किदार कुषाण शाखा के इस सम्राट के संरक्षण में रचे गये थ। बाद के नाटककार भास और शायद सौमिल्ल तथा कविपुत्र ने और शूद्रक ने तो निस्सन्देह ही अपने नाटकों की रचना उस काल की थी जब कि भारत में कुषाणों का साम्राज्य छाया हुआ था और वह कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञानों के सभी क्षेत्रों में रचना कार्य को प्ररणा दे रहा था। यह महत्वपूर्ण है कि एकियन यूनानियों के विरुद्ध थ्राजन लोगों ने जो चाल अपनायी थी, उसका भास न अपने एक नाटक में उपयोग किया है—सिर्फ घोडे की जगह हाथी कर दिया है। अवन्ती क राजा प्रद्योत ने उदयन को पकडने के लिए सिपाहियों को लकडी क हाथी के अन्दर छिपा दिया था। इतना ही महत्वपूर्ण यह तथ्य है कि एक नीची जाति के राजा शूद्रक ने यूनानी हास्य नाटकों की पणाली के अनुसार एक हास्य नाटक **मृच्छकटिक** लिखा जिसमें ब्राह्मणी परम्परा भंग कर ब्राह्मण को चोर बनाया और मंच पर भारतीय इतिहास की पहली लोकवादी और राजनीतिक क्रान्ति प्रस्तुत की।

कनिष्क के राजदरबार में अन्य विद्वानों के अतिरिक्त नागार्जुन, माथर और चरक भी थे। नागार्जुन महायान मत और बोधिसत्व की धारणा के आचार्य थे जिससे वैष्णव मत को प्ररणा मिली और जो स्वयं वैष्णव मत से प्रेरित थी। इसस और व्यापक विकासक्रम की भूमिका बनी। बोधिसत्व की धारणा से ईसाई मत प्रभावित हुआ। महायान के उदय से हीनयान का संकीर्ण सम्प्रदाय फीका पड गया। उसका संकुचित यान महायान के उस अनन्त क्षमतावान यान से मात खा गया जिसमें सारी दुनिया का भार वहन करने की शक्ति थी। बोधिसत्व ने घोषणा की कि जब तक पृथ्वी पर एक भी मुक्तिहीन व्यक्ति रहेगा तब तक

मैं निर्वाण में प्रवेश नहीं करूंगा। इस सिद्धान्त का आम जनता के दिमाग पर अनुकूल प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। इससे बुद्ध सामान्य पूजकों के व्यक्तिगत देवता बन गये जिनके पास वे इस अनुभवजन्य और अस्थिर संसार की असमानताओं और दीनहीनता से भाग कर शरण ले सकते थे। इससे बुद्ध की प्रथम मूर्ति बनी और बोधिसत्व के विचार ने गृहस्थ को बुद्ध के त्याग-तपस्या के कठोर नियमनों से मुक्त कर दिया। इससे वह बोधिसत्व के निकट पहुंचा जो उसकी तरह सामान्य वेश-भूषा से सज्जित थे, जो उसकी ही तरह गृहस्थ थे और विभिन्न सन्तापों के व्यापक भुक्तभोगी थे तथा जन्म-मृत्यु की अनन्त शृंखला से बंधे थे। इस विचार ने मध्य एशिया के खानाबदोश कबीलों के कल्पना-संसार में स्थान बना लिया और उन्हें मानवीय बनने के लिए विवश किया।

कनिष्क के मंत्रियों में से एक, माथर, अत्यन्त बुद्धिमान राजनीतिज्ञ था जो अपने सचिवालय को कुशलतम अधिकारियों के साथ चलाता था। रोगों की चिकित्सा के आचार्य चरक ने अपनी संहिता तैयार की जैसे कि कुषाण शासन के अन्तिम काल में सुश्रुत ने भी अपनी संहिता तैयार की थी। बताया जाता है कि चरक ने बैक्ट्रिया में एक चिकित्साशास्त्रीय सम्मेलन में भाग लिया था और बैक्ट्रिया के उन चिकित्सकों के विचार सुने थे जो शायद यूनानी थे। दुनिया के प्रारम्भिकतम शरीर-क्रिया-वैज्ञानिकों में से एक गालेन ने १५० ई. के लगभग, कुषाण काल में सिकन्दरिया में एक भारतीय चिकित्सक के रहने और अध्ययन करने का उल्लेख किया है।

इन श्रेष्ठ विद्वानों के अतिरिक्त कनिष्क ने एक कुशल यूनानी इंजीनियर एगेसिलाउस को भी नौकर रखा जिसने उसके शासन काल की धार्मिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक और कलात्मक गतिविधियों में प्रमुख रूप से भाग लिया। निर्माण कार्यों के लिए सचमुच ऐसे इंजीनियरों और शिल्पियों की आवश्यकता थी। बौद्ध परिषद् के अधिवेशन से कनिष्क को अपने स्वप्नों के अनुरूप बुद्ध के कार्यों की स्मृति सुरक्षित रखने, उनके अवशेष एकत्र करने तथा उन धर्म सम्बन्धी टीकाओं और पाण्डुलिपियों का संग्रह तैयार करने की असामान्य प्रेरणा मिली जो उक्त परिषद् की कार्यवाही के प्रधान परिणाम थे। पवित्र अवशेषों को रखने के लिए उसने अपनी राजधानी पुरुषपुर, पेशावर, में कई मंजिलों वाला ६०० फुट ऊंचा एक शानदार स्तम्भ बनवाया। फाहियान इसके अतुल सौन्दर्य से चकित हुआ और उसका

ख्याल था कि वह जम्बू द्वीप में सबसे ऊंचा स्तम्भ था। एशिया की इमारतों में उसको महत्तम गौरव प्राप्त हुआ। इसके पास कनिष्क ने जो विशाल विहार बनवाया, वह सारे बौद्ध जगत् में बौद्ध संस्कृति के महत्तम केन्द्र के रूप में ख्यात हो गया। इस सम्राट् ने मथुरा से बामियान तक, वास्तव में गांधार और अफगानिस्तान को केन्द्र बना कर सुदूर पश्चिम और सुदूर पूर्व तक स्तूपों और विहारों का निर्माण कराया। और यह सब एक विदेशी का कृतित्व था जिसने भारत को अपना घर बनाया था।

उस समय मध्यदेश से बैक्ट्रिया तक फैला एक विशाल क्षेत्र बन गया। मुख्यतः कनिष्क के संरक्षण में हिन्दूकुश के उस पार चीन की सीमाओं तक बड़ी-बड़ी बस्तियां बस गयीं। वहां भारतीय धर्मों ने मनुष्य के चरित्र का निर्माण किया और गांधार कला ने उनके सौन्दर्य बोध को समृद्ध किया तथा उनकी मूर्तियों का सृजन किया। संस्कृत साहित्य और शास्त्रीय संगीत ने उनके विचारों को संवारा और उनको मधुर बनाया। मध्य एशिया के खानाबदोशों के क्रूर आचार-विचार को मानवीय बनाने में कुषाणों ने बड़ी भूमिका अदा की। वे अपने हेलेनी पूर्वगामियों की संस्कृति और परम्परा को वहां ले गये और इस क्षेत्र में व पश्चिमी एशियाई हेलेनवाद के संरक्षक और व्याख्याता बने। गंगा और यमुना के दोआबों की तत्कालीन कला ने उस कला-उपवन के फूलों में गंध डाली जिनको बौद्ध भिक्षुओं ने हेड्डा और बामियान के पार ले जाकर गांधार शैली में, तकलामकान के रेतीले प्रदेशों से गुजरने वाले दो व्यापार मार्गों के इधर-उधर रोपा था। कनिष्क के अनुरोध पर महान् भिक्षु कश्यप मातंग बौद्ध धर्म की ध्वजा चीन ले गये और वहां उन्होंने बुद्ध का संदेश प्रचारित किया। लगभग इसी काल मध्य एशिया की बस्तियों में खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपियों तथा प्राकृत और संस्कृत भाषाओं का प्रसार हुआ। और यह आसान भी था क्योंकि बौद्ध विद्वत्ता का महान् केन्द्र काश्मीर कनिष्क के राज्य के अन्तर्गत था और वहां से खोतान तथा कूची को जाने वाले राजमार्ग उसके संरक्षण में थे।

कनिष्क की देवपुत्र उपाधि तभी मध्य एशिया पहुंची जहां बौद्ध और हिन्दू राजा भी उसे अपनाने लगे। यह महत्वपूर्ण है कि उसने एक ओर चीनी सम्राटों की उपाधि देवपुत्र ली और दूसरी ओर रोमन सम्राटों की उपाधि सीजर (कैसर) ग्रहण की (शायद कनिष्क द्वितीय ने रोमन सम्राटों की उपाधि ली थी)। इससे दो छोरों, चीन और रोम

के बीच एकसूत्रता स्थापित हुई। चीनी सम्राट् अपने को देवताओं का वंशज मानते थे। इसी तरह रोम के सम्राट् भी अपना दैवी मूल बखानते थ। कभी-कभी उनकी मूर्तियां मन्दिरों में पधरा दी जाती थीं और शायद पूजी भी जाती थीं। ओगुस्तस की एक मूर्ति मुजीरिस में देखी गयी थी। कुषाण राजा वासुदेव ने जो मथुरा के शासकों में एक था, अपने पितामह द्वारा स्थापित एक मूर्ति संग्रहालय, पितामह देवकुल, का उल्लेख किया है। पुरातत्वशास्त्रियों ने देवकुल नामक गांव में खुदाई कर कदफीसिस, कनिष्क तथा अन्य राजाओं की मूर्तियां प्राप्त की हैं। कुछ आश्चर्य नहीं जो रोमन सम्राटों द्वारा स्थापित उन मन्दिरों के अनुकरण में जिनमें वे अपनी मूर्त्तियां स्थापित करवाते थे, उक्त संग्रहालय की स्थापना की गयी हो। कुषाण सम्राट् रोमन दुनिया के बराबर सम्पर्क में रहे, यह तथ्य उस काल कुषाण सम्राटों द्वारा रोम को भेजे गये अनगिनत राजदूतों की जानकारी से सिद्ध होता है। प्राचीन यूनानी और रोमन लेखकों ने भारतीय दूतों के भेजे जाने की अनन्त घटनाओं की चर्चा की है और राजदूत तत्कालीन और बाद के रोमन सम्राटों के लिए अमूल्य उपहार तथा सद्भाव और समर्थन के संदेश ले जाते थे जिसमें से कुछ तो वफादारी तक की घोषणाएं करते थे।

कुषाणों की उपलब्धियों में से निम्नलिखित का उल्लेख किया जा सकता है। मध्य एशिया पर कुषाणों का शासन स्थापित हुआ जहां रोमन (और उसके माध्यम से यूनानी), जरथुस्त्री, भारतीय और चीनी संस्कृतियों का संगम स्थापित हुआ और इससे भारत को एक मानवता की उदारतावादी समग्र दृिष्टि प्राप्त हुई तथा बौद्ध मत ने संस्कृति का सार्वभौमिक दृिष्टकोण उपलब्ध किया। इस युग में कार्तिकेय और वासुदेव कृष्ण की भक्ति का विकास हुआ। ईसाई मत के प्रभाव से बाल कृष्ण की भक्ति में कई पहलू जुड़ गये। गांधार कला ने एक स्पष्ट समान शैली को जन्म दिया और महायान के दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा समर्थित बुद्ध की मूर्त्ति के प्रकट होने से बौद्ध मत पश्चिम और पूर्व में समान रूप से विचारकों तथा आम जनता को स्वीकार-योग्य बन गया। कला को आम रूप में एक विशिष्ट कुषाण शैली प्राप्त हुई और नाग और नागिनियों, अप्सराओं और यक्षिणियों, सप्तामातृकाओं, मगरमच्छ और कछुए पर सवार गंगा और यमुना, बोधिसत्वों और आयागपटों की मूर्त्तियों ने मथुरा कला को समृद्ध किया। वासुदेव कृष्ण पहली बार मूर्त्तिमान हुए। अगर कुषाण तकनीक

पहले प्रकट न हुई होती तो गुप्त युग की कला की उपलब्धिया और सूक्ष्मता मात्र स्वप्न बनी रहती। कुषाणो की राजनीति और व्यापार से पश्चिम तक भारत को पहुचने मे आसानी हुई और इससे कई बाते सीखने का अवसर प्राप्त हुआ।

जब गुप्त सम्राटो ने अरब तट तक अपना प्रभाव जमा लिया तब भारत से जाने वाले मालवाहक जहाज वहा ठहरने लगे और व्यापारिक सम्बन्ध गहरे हुए। स्वय कुषाणो के काल मे व्यापार फूलने-फलने लगा था, विशेष कर कनिष्क द्वारा रोमन सम्राटो से राजनयिक सम्बन्धो की स्थापना के बाद, और हिप्पालस मानसून के चमत्कारो से अवगत हुआ, जहाजचालको ने निर्भय होकर समुद्र पार करना प्रारम्भ किया।

गुप्त काल मे—४थी से ६वी शताब्दी ई तक—वास्तव मे, उससे भी कुछ पहले, भारत मे रोमन बस्तिया बसने लगी और रोमन दीनारों की भारतीय बाजारो मे बाढ आ गयी थी। दीनार शब्द का उपयोग उन्मुक्त रूप से पहले ही होने लगा होगा, मगर लिखित भाषा और साहित्य मे उसका उल्लेख गुप्त काल मे या उससे थोडा ही पहले हुआ।

गुप्त सम्राटो के बाद जिन आभीरो (अहीर), गुर्जरो (गुजर), जाटो और हूणो के जुझारू कबीलो ने बडे-बडे राज्य स्थापित किये और सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव डाला, उनके समय तक पहुचते हुए, नव-निवासियो के योगदान का लेखा-जोखा लेना लाभदायक होगा, क्योकि गुप्त काल मे ही उनका योगदान सुदृढ हुआ। उदाहरण के लिए ज्योतिष ज्ञान को यूनानियो ने प्रचलित किया, मगर एक ऐसे समय मे जब गुप्त सम्राट् अपना शासन क्षेत्र विस्तृत कर रहे थे और शको के अस्तित्व तक को इससे खतरा था, तब भी शको ने ही उस ज्ञान को प्रचारित और सुदृढ किया।

ई पू दूसरी शताब्दी के पुष्यमित्र शुग ने अपने सिक्को के लिए रोमन स्वर्ण मुद्रा शब्द इस्तेमाल किये थे, मगर इस घटना का उल्लेख बहुत बाद मे दिव्यावदान मे मिलता है जिसके लेखन के समय तक बाजारो पर गुप्त सम्राटो का आधिपत्य स्थापित हो चुका था। खेतो की खुदाई-निराई के समय जो मुद्रा भण्डार मिलते आ रहे है, वे इस तथ्य के अधिकाधिक प्रमाण प्रस्तुत कर रहे है। इनमे से अनेक पर ओगुस्तस् का चेहरा बना हुआ है जिसकी मूर्तिया भी शायद तटवर्ती रोमन बस्तियो के मन्दिरो मे स्थापित की गयी थी। कल्याण,

शूर्पारक (थाणा जिले में सोपरा) और भरुकच्छ (भड़ोच), इन सभी जगहों में रोमन बस्तियां थीं और यह सर्वविदित है कि आज जहां क्रैंगानूर नगर है, वहां एक समय मुजीरिस नामक रोमन बस्ती फूल-फल रही थी। इस नगर के एक भाग में यहूदी भी बसते थे जिनको १०वीं सदी में केरल के भास्कर रवि वर्मा ने कुछ अधिकार दिये थे।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, गुप्त सम्राटों के काल में उक्त दो भूखण्डों के बीच विस्तृत व्यापार विकसित हुआ। पाण्ड्य राजाओं ने अपने अंगरक्षकों की टुकड़ियों में अनेक रोमन सिपाही भरती किये। इतिहासकार कल्हण ने अपनी अमर कृति राजतरंगिणी में इस तरह की रोमन सेना को 'कम्पण' कहा है। यह शब्द स्पष्ट ही रोमन सेना या उसके खेमों के लिए प्रयुक्त शब्द 'कैम्पस' से बना है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि गुप्त सम्राटों ने सोने की दो तरह की मुद्राएं जारी कीं, एक तो सुवर्ण की जो स्थानीय स्वर्ण-प्रतिमान के अनुसार बनती थी और दूसरी दीनार, (रोमन दीनारियस) और यह असम्भव नहीं है कि स्थानीय सिक्कों के निर्माण पर दीनार का प्रभाव न पड़ा हो।

यह भी स्पष्ट है कि गुप्त काल में अनेक ईसाई बस्तियों का उदय हो चुका था। शायद उनकी स्थापना दूसरी सदी ईसवी में शुरू हो चुकी थी। पालादियस ने अपनी पुस्तक लोगियक हिस्तोरिस (४२० ई.) में कहा है कि ४थी सदी तक भारत में ईसाई गिरजाघर स्थापित हो चुके थे, इस प्रकार न केवल मध्य एशिया के खानाबदोशों ने, जिनके पास अपनी कोई सामाजिक व्यवस्था या सभ्यता न थी, भारत में प्रवेश किया और भारतीय जीवन को प्रभावित किया, बल्कि ईसाई जीवन-दर्शन और विश्वासों वाले लोग भी आये और इस देश में बस गये और उनकी सहनशीलता और साहस की भावना गुप्त सम्राटों के उदार-पंथी शासन पद्धति के साथ एकात्म हो गयी।

o

: ६ :

वे आये, जीते और विलीन हो गये

पाचवी सदी के अंतिम भाग में सशक्त विदेशियो का एक और रेला आया। आभीरो (अहीरो) ने शको और सातवाहनो को कचल दिया था और पश्चिम में अपना एक सशक्त साम्राज्य स्थापित कर लिया था। उन्होंने कृष्ण से सम्बन्धित होने की इच्छा से अपने आपको यादववशी बतलाना शुरू कर दिया था।

जाट और गुर्जर बहुत प्रभावशाली हो गये थे। जाटो को तो गुप्त सम्राटो से भी जोडने की चेष्टा की गयी है। दूसरी ओर गुर्जरो ने एक प्रात को अपना नाम—गुजरात—दे दिया और गुर्जर प्रतीहार नामक एक राजवश भी देश में प्रतिष्ठित हुआ। हम इन दोनो जातियो पर कुछ विस्तार से प्रकाश डालगे।

आभीर और गुर्जर उत्तर-पश्चिमी रास्ते से भारत आये थ। हो सकता है कि उनके कुछ दल गिलगित और चित्राल के रास्ते से भी आये हो। सीमाओ पर यूनानियो और पार्थियनो का राज था जिसने विदशी जातियो को आगमन के लिए आकृष्ट तथा उत्साहित किया था। आभीर और गुर्जर भी काफी पहले भारत म प्रविष्ट हो गये थ, सभवत पहली सदी ई पू से भी पहले। दूसरी सदी ई पू के पतजलि और महाभारत ने आभीरो का उल्लेख किया है। इन दोनो ने ही इनको शूद्रो की श्रणी में रखा है। महाभारत के अनुसार ये अपरान्त म और बाद में विनसान के निकट बसे थे जहा सरस्वती बालुका में विलीन हुई है। कुछ समय तक पशावर के निकट सिधु नदी के पश्चिमी तट पर आभीर और पूर्वी तट पर गुर्जरो ने पडाव डाला। पजाब पर सिकन्दर के आक्रमण के समय मे वहा नही थे। शायद वे पामीर से लेकर कश्मीर के उत्तरी छोर वाले इलाके में बसे दरदो की शाखाए रहे हो। राजतरंगिणी में उनकी वीरता का उल्लेख हुआ है। आभीर (अहीर) और गुर्जर (गूजर, बड-गूजर) पूरब और दक्षिण में

फैले और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में छा गये जहां आज भी वे बड़ी संख्या में रहते हैं।

आभीर पूरब में पीछे बिहार और बंगाल तक फैल गये, लेकिन गुजरों ने काफी अरसे तक अपनी घुमक्कड़ आदतें कायम रखी और उनमें से कुछ अभी भी घूमते रहते हैं। अधिकांश ने पंजाब में बस कर अपने नाम से जिले व प्रदेश गुजरात (पंजाब में), गुजर खां और गुजरानवाला बसाया। अठारहवीं शताब्दी तक सहारनपुर जिला गुजरात कहलाता था। हिमालय के पश्चिमी भाग में, पश्चिमी राजपूताने में, सिंध के बाद वाले पर्वतीय क्षेत्र में, पंजाब और उत्तर प्रदेश में पुराने गुर्जरों के प्रतिनिधि गुजरों की स्थिर व अस्थिर आबादियां हैं। गुजरात की अधिकांश आबादी गुर्जरों के वंशजों की है। तदनंतर वे आभीरों के साथ-साथ उसी रास्ते से सिंध होकर समुद्र के किनारे-किनारे दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़े, जिससे पहले बैक्ट्रियाई यूनानी गये थे, पीछे हूण गये।

गुर्जर लाट में बस गये जो क्षेत्र उनके नाम पर गुजरात कहलाया। लगभग उसी समय हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन ने उन्हें गुजरात की ओर जाते हुए उनको घेर कर परास्त कर दिया। बाणभट्ट के हर्षचरित में प्रभाकरवर्धन का उल्लेख ''गुर्जरों की नींद के दुश्मन'' के रूप में किया गया है। साहित्य में इससे पहले और दूसरा उल्लेख उनका नहीं मिलता। परन्तु कुछ अभिलेखों में इन्हें और भी पहले का बताया गया है।

हर्ष के बाद वे राजस्थान में बहुत ताकतवर हो गये थे और माण्डव्य-पुर जोधपुर के निकट मांडोर के अपने आधार से उन्होंने मालवा में घुसपैठ शुरू कर उस पर कब्जा कर लिया और कुछ समय तक उस पर राज किया। सिन्ध में अपने पैर जमा कर अरब जब पूरे पंजाब और गुजरात का सफाया करने के बाद मंडौर के गुर्जर राज्य को रौंद उज्जैन पर चढ़-दौड़े तब वहां के गुर्जर राजा नागभट्ट ने उनको पीछे धकेल कर मालवा की रक्षा की थी। उसके बाद उत्तर में पंजाब और दक्षिण में मालवा के गुर्जरों ने, जो सदैव अस्थिर रहते थे और कभी एक जगह टिक कर नहीं रह पाते थे, बड़ी संख्या में मध्य देश में प्रवेश किया और कन्नौज को अपनी राजधानी बना कर वे वहीं बस गये। इस प्रकार वहां राजपूतों के नये गुर्जर-प्रतीहार राजवंश की नींव पड़ी। प्रथम गुर्जर प्रतीहार राजवंश की स्थापना मंडोर में हुई थी जिसकी दो अन्य शाखाओं ने बाद में लाट और नन्दीपुर में अपना शासन

कायम किया। मडोर के राजघराने के जन्मदाता हरिश्चन्द्र थे जिनकी, कहा जाता है, दो पत्निया थी, एक ब्राह्मणी दूसरी क्षत्रिया। इनमे से दूसरी के पुत्रो ने, जिन्हे क्षत्रिय माना गया, राजकाज सभाला। यह इस बात का अच्छा उदाहरण है कि किस प्रकार एक सनातनी ब्राह्मण गुर्जरो मे सम्मिलित हो गया और जब गुर्जरो के राजवश बने तब उन विदेशियो को भी चाहमाण (चौहान), परमार, चालुक्य तीन अन्य राजपूत राजवशो के साथ आबू पर्वत पर अग्नि को साक्षी मान कर क्षत्रियो मे सम्मिलित कर लिया गया।

कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी की यह दलील किसी भी प्रकार से टिक नही सकती कि हिमालय से लेकर गुजरात और सौराष्ट्र के दक्षिणी छोर तक के भूखण्ड के निवासियो को गुर्जर कहा जाता था। सदा से ही प्रदेशो का नाम उनके निवासियो के नाम पर ही रखा जाता रहा है। आर्यो की भूमि को आर्यावर्त्त कहा गया है, यौधेयो (जोहियो) की भूमि को जोहियावाड कहा गया, मालवो के नाम पर मालवा नाम पडा, जिनके बाद आभीरो अथवा अहीरो के नाम पर अहीरवाडा नाम रखा गया फिर शको ने शकस्तान (जिसे सेइस्तान भी कहा गया है) या शकद्वीप को और गोडो ने गोडवाना को अपना नाम दिया। यदि ऐसा न होता तो इतने सारे भू-प्रदेशो के नाम गुर्जरो के नाम से सबद्ध न होते या उनके नामो के आधार पर रखे न गये होते। इससे प्रकट है कि इन प्रदेशो मे एक ऐसी आबादी रहा करती थी जो निरन्तर पिछला स्थान छोड कर आगे बढती जाती थी। जो गुर्जर एक स्थान पर बस भी गये है उनके अलावा बहुत बडी सख्या ऐसे लोगो की भी है जो सदा खानाबदोशो अथवा जिप्सियो की तरह निरतर घुमक्कडो का ऐसा जीवन बिताते है जिसे नैतिक दृष्टि से बिल्कुल निर्दोष नही कहा जा सकता। अटकल के आधार पर तो यहा तक कहा जा सकता है कि ये भारत के जिप्सी लोग है जो उस विशाल परिवार की ही शाखा के है जो योरप और पश्चिमी एशिया के बहुत बडे हिस्से मे आर्मीनिया, रूस और पोलैण्ड तक फैला हुआ है।

आभीर भी गुर्जरो वाले रास्ते से दक्षिण की ओर गये और काठिया-वाड मे जा बसे। जल्दी ही वे विद्रोह कर उठे और ज्यो ही सातवाहन कमजोर हुए, उन्होने उनसे सत्ता हथिया ली। उनके नेता ईश्वरसन ने महाराष्ट्र मे आभीर राजवश की स्थापना की। पुराणो के अनुसार ये सातवाहनो के उत्तराधिकारी थ। उन्होने शक क्षत्रपो को हरा कर जिनके ये स्वय सेनापति रह चुके थे, मध्य प्रदेश मे बेतवा और पार्वती

नदियो के दोआब के गणराज्यो को अहीरवाड़ा मे परिणत कर अपना विस्तार किया। समुद्रगुप्त से पराजित होने वाली जातियो में इनका भी नाम गिना गया है।

अहीरो ने स्वयं को यादवो से संवद्ध तो बताया ही, बृज के गोपो से भी वे जुड़े और उनकी औरते कृष्णलीला की गोपियों के रूप मे विख्यात हुई। हिन्दी के रीति कवियो ने उनका इसी रूप में विशद विवेचन किया है। नटखट बाल-रूप कृष्ण की पूजा से उनके जीवन मे विशेष रंग आया। भण्डारकर का विचार है कि भारत में ईसा मसीह की कथाए आभीरो ने ही फैलायीं और उनका समावेश कृष्ण-गाथाओ मे भी कर दिया।

आभीरो के बारे मे एक बात बड़े महत्व की है। शुरू से ही उनके नाम संस्कृत मे थे। इनके अपवाद बहुत थोड़े थे, जैसे रुद्रभूति का पिता बापक। आम तौर पर उनके नाम माथरिपुत्र, ईश्वरसेन, शिवदत्त आदि हुआ करते थे। उनके शासकों की पदवियां भी बहुत कम विदेशी थीं और वे आम तौर पर राजा अथवा महाराजा की उपाधि धारण करते थे।

अहीर और गूजर, और जाट भी, समुचित रूप से हिन्दू वर्ण व्यवस्था में समाविष्ट नहीं हो सके। वे न तो क्षत्रिय हैं, न वैश्य। उनका अपना अलग कुनबा बना, जो मजबूत और कद्दावर काठी के थे। गुर्जर प्रतीहारो के रूप मे गूजरो को परमार, चालुक्य और चाहमाण (चौहान) के समकक्ष क्षत्रिय माना गया। लेकिन केवल इस कुनबे के नेताओ और शासको को यह दर्जा हासिल था, क्योंकि सामान्य लोग अपनी खेती-बाड़ी में या लूट-पाट और राहजनी मे लगे रहे।

जाटो ने भी उत्तर प्रदेश और पंजाब में अपने राज्य कायम किये और एक जमाने मे तो उनका कारस्कर गोत्र गुप्तो का गोत्र माना जाने लगा था और दावा किया गया कि गुप्त भी जाटो से ही निकले है। उनकी सामाजिक आदतें, उनकी सामूहिक रंगरेलियां, उनके मद्यपान उत्सव (अहीर आम तौर पर मद्यपान नहीं करते)—ये तीनों ही कुनबो के विशिष्ट चरित्रो को उद्घाटित करते है जिन्होने भारत के जीवन को प्रभावित किया है।

प्राकृत और अपभ्रंश, जो लोकप्रिय बोलियां थीं, गुर्जरो और आभीरो से बहुत प्रभावित हुईं। एक महत्वपूर्ण प्राकृत गुर्जरी, जिससे आधुनिक गुजराती भाषा का जन्म हुआ, गुर्जरो की देन है, और

आभीरी आभीर प्रभाव की उपज है। छठी सदी के महान भाषाविद् और सौंदर्यशास्त्री दण्डी ने अपभ्रंश प्राकृत को आभीरों की भाषा के प्रभाव से उत्पन्न पद्य-शैली के रूप में परिभाषित किया है।

शौरसेनी और महाराष्ट्री पर भी उनका गहरा प्रभाव पड़ा, और सिंध की व्रचटा तो लगभग आभीरी की समानार्थक है।

अगले आगंतुक हूण थे। वे चीन के कान-सू प्रांत के भयावह ह्यु़ंग-नू थे। जब वे अपने मूल आवास से हटे तब सभ्य राष्ट्रों के भाग्य पर विपदा आ गयी। उन्होंने पड़ोस के यूएह-ची को उखाड़ फेंका जो अपनी जान लेकर भागे और शकों से टकरा गये। शक भागे और उनके साम्राज्य उलट-पुलट गये।

हूणों ने दुनिया भर में तलवार और आग से तहलका मचा दिया, रोमन साम्राज्य की रीढ़ तोड़ डाली और भारत के उर्वर मैदानों पर हमला कर गुप्त साम्राज्य के परखचे उड़ा दिये। परास्त होकर वे वापस लौटे, ताकत जुटा कर फिर चढ़ आये और अंततः भारत में बस गये।

उन्हें अमान्य करना आसान न था और उन्हें समाविष्ट करने के लिए नये सामाजिक प्रबंध करने पड़े, क्योंकि उन्हें म्लेच्छ कह देना या शूद्रों की स्थिति में रख देना असंभव था। उन्हें विशिष्ट क्षत्रियों के रूप में स्वीकार करना पड़ा। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आबू में एक तरह का शुद्धीकरण का कार्यक्रम आयोजित हुआ और उन्हें हिन्दू जाति में प्रविष्ट कर लिया गया। वे अंशतः चार प्रसिद्ध राजपूत परिवारों—अग्निकुलों—में प्रविष्ट हो गये। वे मालवा में लड़े और हारे, कश्मीर को घेरा, विरोधियों का नृशंसता से संहार कर दो पीढ़ियों तक उस घाटी पर राज किया। कल्हण की **राजतरंगिणी** में उनके राजा की असाधारण निर्ममता का उल्लेख हुआ है जो केवल हत्या के लिए हत्या करता था, हत्या का आनन्द लेने के लिए हत्या करता था। गर्भवती स्त्रियों के गुह्यांगों को चीर डालना और हाथियों को पर्वत शृंगों से धकेल देना उसके सबसे प्रिय खिलवाड़ थे।

अग्नि-दीक्षा के बाद वे विदेशी नहीं रह गये और पूर्णतः क्षत्रिय हो गये थे। जाति-गर्वी **पृथ्वीराजरासो** में उन्हें (हूल) ३६ उच्च राजपूत घरानों में से एक बताया गया है। उनमें से कुछ पंजाब में बस कर खत्री (प्राचीन क्षत्रिय) कहलाये और आज भी वे अपना उपनाम हूण लिखते हैं। इन दोनों ही जातियों में शादी-विवाह आम तौर पर होते हैं।

हूणों ने परंपरागत क्षत्रियों की म्रियमाण जाति में नये प्राण भर दिये। भारत पुनः सक्रियता की ओर बढ़ा। राजपूत शब्द बहादुरी और साहस का समानार्थक बन गया। शीघ्र ही उनकी बहादुरी की गाथाएं प्रचलित हो गयीं, उनके पुरुषों की अटूट बहादुरी और स्त्रियों का सतीत्व प्रख्यात हो गया। और आत्म-दाह के इस कृत्य के लिए उन्होंने जौहर शब्द एक विदेशी शब्दावली से, इब्रानी से चुना, जिसका अर्थ होता था आग और प्रकाश। स्पेन के महान् यहूदी विद्वान और दार्शनिक मोजे द ल्यों ने अपने प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथ का नाम जोहर रखा है।

यह सब भारत के उत्तर और पश्चिम में हो रहा था, जबकि पूरब में मंगोल रक्त को आत्मसात कर और रक्त की शुद्धता का मिथ भंग कर एक नया ही जातीय इतिहास लिखा जा रहा था। पूर्व हमेशा ही पश्चिम को आकृष्ट करता रहा है। पश्चिम के लोक-गीतों में कामरूप (असम) की मोहिनी सुंदरियों के जादू से पति के खो जाने का भय पश्चिम की पत्नियों को शंकित करता रहा है। महाभारत में अर्जुन उलूपी और चित्रांगदा के सौंदर्यपाश में बंध कर उनसे शादी करते हैं।

शान जातियों ने, जो अधिकतर चीनी भाषा की एक बोली बोलती थीं, कामरूप के अर्ध-आर्यों और नागाओं को आतंकित कर रखा था और अपनी मातृसत्ताक समाज व्यवस्था से आसपास के जीवन को प्रभावित किया था। इस प्रभाव ने स्मृतियों द्वारा निर्देशित समाज व्यवस्था को नष्ट किया और जब अहोमों ने देश को जीता तब जातियां पूर्णतः ध्वस्त हो गयीं। तिब्बत की बहुपतिक प्रथा ने पहले भी असर डाला था और द्रौपदी का पांच भाइयों और वर्क्षी का दस पतियों से विवाह उसके कुछ उदाहरण भर थे।

हिमालय की उपत्यकाओं से लेकर पूरब में गंगा और पद्मा तक, तथा बर्मी शानों और किरातों से लेकर पूर्वी बंगाल के पश्चिमांत तक सारा मानव समुदाय जातीय रूप से एकमेव हो गया। जातियां भ्रष्ट और संदेहास्पद हो गयीं और दकियानूसों ने पुरोहितों द्वारा गंडक के पूर्व के क्षेत्र को आर्यों के रहने के अयोग्य घोषित किया जाना उचित समझा।

●

: १० :

इस्लाम का प्रादुर्भाव

भारतीय सस्कृति को प्रभूत मात्रा मे प्रभावित करने वाली एक अत्य-धिक महत्वपूर्ण शक्ति अभी आन वाली थी। वह ईसवी सन ७१२ मे इस्लाम के अग्रदूत, मुहम्मद बिन कासिम के साथ आयी। मानवता को सभ्य बनाने मे अरबो की एक अत्यत प्रबुद्ध भूमिका रही है। उनकी प्रतिभा के इस पक्ष को पर्याप्त मात्रा मे नही पहचाना गया है। अपने पंगबर की मृत्यु के बाद ८० वर्षों मे ही उन्होने पूर्व मे सिध तथा आमू दरिया से पश्चिम मे अतलातिक सागर के तट (स्पेन) तक, और उत्तर मे कैस्पियन सागर से दक्षिण मे नील नदी तक के समूचे क्षेत्र पर कब्जा कर लिया था।

अरब लोग ज्ञान के महान सरक्षक और प्रचारक थे। उन्होने यूना-नियो के दर्शन और विज्ञान को योरप के लिए सरक्षित किया और भारत से गणित तथा औषधि विज्ञान और चीन से कागज तथा छापे की मशीन पश्चिम मे ले जाकर उसे प्रबुद्ध किया। और हम ज्ञान-विज्ञान के इस प्रसार का फल जानते हैं। लेकिन इस्लाम के ध्वज के नीचे अन्य देशो मे प्रवेश करने वाले वे अकेले नही थे, और जहा वे नही पहुचे थे, अन्य लोगो ने लूट पाट और गुडागर्दी करके उनकी परपराओ को लाछित किया।

सिध पर विजय अरबो ने की थी और हम उन नये आवासियो के सुशासन की घटनाएं जानते हैं। उन्होने सशक्त हिन्दू राजाओ से घिरे इस राज्य पर ३०० वर्षों तक शासन किया जिससे दोनो पक्षो की शातिमयता का सकेत मिलता है—यद्यपि यहा से उन्होने दक्षिण की ओर और मालवा मे प्रवेश करने की बार-बार असफल कोशिश की। लेकिन क्रूर इस्लामी सेनाएं भी अभियान कर चुकी थीं, जिसकी शुरुआत सुबुक्तगीन और महमूद ने की थी, जिसे मुगलो ने पूरा किया था, उस कार्य मे विभिन्न कुनब और जातियो ने हाथ

बटाया था। इनमें से प्रत्येक अपने साथ असंख्य विशिष्ट सांस्कृतिक इकाइयां लेकर आयी थी।

मुसलमानों का चाहे जो तरीका रहा हो, मगर वे उन शक, कुषाण और हूण, आभीर और गुर्जर जातियों की तरह इस देश में नहीं आये थे जिनके पास सामाजिक संगठन, दर्शन या आचार-नियम का कोई बोध नहीं था। मुसलमानों के पास अपना जीवन-दर्शन था और उन्हें किसी अन्य की आवश्यकता नहीं थी, उनके अपने धर्म-नियम —शरीयत और हदीस—थे और उनके सामाजिक अनुशासन के सिद्धांत समानता, स्त्री और पुरुष दोनों के लिए जमीन-जायदाद पर समान हक पर अवलंबित थे। इसीलिए उन्हें पिछली जातियों की तरह अपने में समाहित नहीं किया जा सका। वे अपनी किस्म का जीवन बिताना और भारत में रहना चाहते थे। लेकिन वे अपने नव-स्वीकृत देश में एक समन्वित संस्कृति का निर्माण करने से नहीं बच सके। न ही वे स्थानीय धारा से अछूते रह सके जो उन्हें अधिकाधिक भिगोती जा रही थी।

वस्तु और विचारों के भारतीय संसार को समृद्ध करने वाले असंख्य इस्लामी योगदानों का वर्णन करने से पहले बेहतर होगा कि हम उस विशाल तथा बहुविध मानवता पर दृष्टिपात करें जो क्रान्तिकारी परिवर्तन से गुजर रही थी। असंख्य विदेशी जातियां पहले ही भारतीय जनता में अपरिभाषित उथल-पुथल पैदा कर चुकी थीं, और जातियां तथा उनके संरक्षक जड़-मूल से हिल गये थे। विजेता घरानों ने उच्च वर्ग में प्रवेश कर लिया था लेकिन उनके साधारण जनों ने जनता में शामिल होकर अपना वांछित प्राप्त करने के लिए समस्त जनता को आंदोलित कर दिया था।

निरंतर बढ़ती जा रही आबादी में विदेशी तत्वों के समावेश ने जीवन में निम्नतर लोगों के दृष्टिकोण में गुणात्मक परिवर्तन ला दिया था जैसा कि परिणाम की वृद्धि से हमेशा होता है। उन्होंने शास्त्रों के दावेदारों को चुनौती दी और ऐसी विधियों और कार्य-वाहियों से, जिनकी न तो पहले कभी किसी ने कल्पना या आशा की थी, अपनी आचरण संहिता बनाने का साहस दिखाया।

निम्न वर्गों को बहुत अरसे से दबाया जाता रहा है; अपने स्वामियों के आदेशों को अक्षरशः पालन करने वाले घरेलू नौकरों को छोड़, अन्य सभी को शूद्र और अछूत करार दिया गया था और उन्हें शहरों तथा बस्तियों में घुसने की इजाजत नहीं थी। उन्होंने अपने बंधन

काट फेंकने और अपने पैरो पर खडे होने का फैसला कर लिया। अवज्ञा का पहला कदम है असम्मान, और असम्मान बढता ही जा रहा था।

वैष्णव सम्प्रदायो के सत उन्हे स्वर्ग मे स्थान का आश्वासन दे ही चुके थे, और पराणो ने समानता का भाव फैलाया तथा घोषित किया कि सभी भक्त विष्णु के अवतारो के प्रिय पात्र हैं 'जात पात पूछ नहि कोई। हरि को भज सो हरि का होई। इस बीच दो परिस्थितियो न आन्दोलित और जागृत निम्न जातियो को नयी शक्ति पहुचायी। सिध और बगाल पर शूद्र राजवश राज कर रहे थे। बगाल मे पाल राजा—जो बौदध थे और उस समय नीचे स उठ कर राजसिहासन तक पहुचे थे जब वहा अव्यवस्था तथा अराजकता फैल गयी थी—जनता क प्रिय पात्र थे ब्राहमणो के कटटर दुश्मन और वज्रयान के सरक्षक थे। तत्र विदया की तरह बौदध वज्रयान सप्रदाय ने कुलीन सकीर्णतावाद छोड दिया था और वह तान्त्रिको स मिल कर शास्त्रो तथा उनके दावेदारो को चुनौती दे रहा था। उनकी पूजा पदधतिया बहुत समान हो गयी थी और उन्होने एलान कर दिया था कि जो स्मार्तो के लिए धर्म है, वह उनके लिए अधर्म होगा और जो स्मार्तो के लिए अधर्म है वही वज्रयानियो और तान्त्रिको के लिए धर्म होगा। शास्त्रीय आचारो मे निषिदध सुरासुदरी उनके समारोहो म मुख्य घटक बन गये और स्त्रिया भी उन नीची जातियो की जिनके साथ ससर्ग ब्राहमणो ने निषिदध कर दिया था। कापालिक औघड और अन्य साधको न एसा जीवन शुरू कर दिया जो वर्ण आचरण के सभी नियमो के विरुदध था।

पददलितो के इस महान आन्दोलन के नता व सिदध थे जो या तो निम्नजातीय विचारक थे या ऐस च्युत ब्राहमण जो वापस अपने वर्ण म नही जा सकते थे। सभी सयम नियमो का उल्लघन किया गया, सभी बधन काट दिये गये और लोगो ने निषिदध का आनन्द पर्वक उपभोग शुरू कर दिया। विधि विधानो मे यौनाचार का आधिपत्य हो गया और सुरा ने वासनाओ को उददीप्त किया। पुराने दर्शन की जगह एक नया दर्शन उदित हुआ इच्छाओ पर रोक और बधन क्यो स्वीकार किये जाय ? वस्तुओ से इद्रियो को दूर क्यो रखा जाय ? क्यो न उनका अतिशय उपभोग किया जाय ताकि वस्तुओ का विनय हो जाय और मनुष्य उनसे फिर आक्रात न हो ? इद्रियो को विषयो से भागने *की आवश्यकता नही*, *आवश्यकता है*

विषयों को आमूल भोग कर जीर्ण कर देने की जिससे उनका भय ही न रह जायं। उपभोग करो ताकि लालसा आंख-मिचौनी न खेले, क्योंकि लालसा को जीतने का सबसे अच्छा तरीका है उसके प्रति समर्पण कर देना।

असम से बनारस तक और उड़ीसा के मंदिरों से खजुराहो तक कुमारी पूजा प्रचलित हो गयी, जहां मैथुन के दृश्य बाहरी दीवारों पर अंकित हुए जो पीड़ाजनक और संतापप्रद होते हुए भी निम्नवर्गों पर लगी सदियों पुरानी बंदिश को तोड़ते थे।

इस्लाम का आगमन ऐसे ही समय हुआ, जब जकड़न भरी आचार संहिता और समाज व्यवस्था के प्रति नफरत खलबला रही थी।

भारतीय परिस्थितियों को परिवर्तन की सख्त आवश्यकता थी और इस्लाम ने एक गैर-इस्लामी पद्धति से यह प्रदान किया। सूफी मत अपनी उदार तथा पुरातनता-रहित आस्था के कारण इस्लामी देशों में तेजी से लोकप्रिय हो रहा था, और जब यह भारत पहुंचा तो यहां उसके स्वागत के लिए ज्वलंत आत्माएं मौजूद थीं। चैतन्य, रामानंद, कबीर, दादू, जायसी, नानक सभी संगठित धर्मों के खिलाफ उपदेश दे रहे थे और आस्था ने ग्रामीण क्षेत्रों में दर्शन को पराजित कर दिया। दर्शनशास्त्र शहरी है, तर्क का नागरिक उहापोह, और सन्तवाद ग्रामीण। दर्शन अभिजात्य है, मुट्ठी भर सुविधाभोगियों की वस्तु है और उन थोड़े से लोगों के लिए है जो उसे समझ सकते हैं। दार्शनिक ऊर्ध्वोन्मुख होता है, द्वीप की तरह अकेला। सन्त समाज में विकास पाता है, क्षितिजोन्मुख रीति से विस्तार पाता है, उस बहती हुई जलधारा की तरह जो हर व्यक्ति को छूती है, और विशाल क्षेत्र पर्यन्त सबको अपने माधुर्य से सराबोर कर देती है। दार्शनिक अपनी तार्किक बुद्धि के बावजूद सावधानी से बोलता है। वह सीमा विशेष तक ही ईमानदार रह पाता है, उस हीगेल की तरह जो भयपूर्वक अपने द्वंद्व-दर्शन को सिर के बल चला रहा था और उसको पैर के बल खड़ा करने के लिए एक मार्क्स की आवश्यकता हुई। हर दार्शनिक अपनी स्थापना को पुष्ट करने के लिए दूसरों का खण्डन करता है और फल यह होता है कि थोथे और शाब्दिक तर्कों पर आधारित कुछ असत्यों का क्रम बन जाता है। सन्त तर्क नहीं करता। उसने तर्कों का खोखलापन और झूठ समझ लिया है और उसको अपने और अन्तरात्मा के बीच सावधानी या विभ्रमों की कोई दीवार खड़ी करने की न तो आवश्यकता होती है और न वह इसकी छूट देता

है। वह कुण्ठित करने वाले दर्शन-जाल से सत्रस्त नही होता और वह जो कुछ देखता है, उसी के विषय मे बोलता है। उसके अनुयायियो का विस्तार जन-समूहो से होता है जो एक क्षितिज से दूसरे क्षितिज तक फैलते जाते है और उसकी शक्ति एक इकाई से दूसरी इकाई, एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य, के सयोग से बढती है। सन्त साहस और निर्भीकतापूर्वक अपने श्रोताओ के आमने-सामने बैठ कर बोलते थे और उनकी वाणी सुनी जाती थी, उसका पालन किया जाता था। नयी व्यवस्था के सिद्धो ने भ्रष्ट और सडी-गली, निरर्थक और मृत्यून्मुख व्यवस्था को चुनौती दी, पण्डितो के लच्छेदार वाग्विलास पर वार किया और उसके स्थान पर अपने प्रतीकात्मक कुण्डली चक्रो को प्रस्तुत किया तथा अपने गुह्यतन्त्र की श्रष्ठ अवधारणा तथा अपने प्रवचन सुनने वाले अनगिनत जन-समूह के बल पर विजय प्राप्त की।

इस्लामी प्रभाव का एक प्रमुख परिणाम था मुस्लिम सूफी सन्तो का हिन्दू जनता से सम्पर्क। यूनानियो, शको और कषाणो की ही तरह मुसलमानो के हमलो, विजय और शासन से पश्चिमी दुनिया का द्वार खुला। विचारो का मुक्त और अबाध आदान-प्रदान इस्का परिणाम था। मुस्लिम देशो से, मिस्र और अरब से, ईराक और खुरासान से, ट्रासँक्सियाना और फारस से, सन्त और पीर भारत आये और उन्होने इसे अपना घर बना लिया। सूफी मत इस्लामी मत की कट्टरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया से पैदा हुआ था और उदार स्नेही सन्तो ने नये आन्दोलन का नेतृत्व किया जिसका भारत मे सहर्ष स्वागत हुआ और लोग उसके अनुयायी बनने लगे। भारतीय सन्तो ने उसके स्वागत के लिए परिस्थितिया पहले ही पैदा कर दी थी और सूफी सन्तो ने जितना मुसलमानो को आकृष्ट किया उतना ही हिन्दुओ को। गजनी के प्रारम्भिक सन्तो मे से एक थे सैयद अहमद सुलतान सखी सरवर (११८१ ई) जिनको लोग 'लाखी दाता' कह कर पुकारते थे। हिन्दुओ के लिए वे प्रमुख आकर्षण सिद्ध हुए। सुल्तानी सन्त जीवन के प्रति अपने विरक्त रुख के कारण उनके लिए बहुत प्यारे बन गये। सूफी सन्तो मे महानतम थे ख्वाजा मुइनद्दीन चिश्ती जो अजमेर म रहे और वही उनका निधन हुआ। उन्होने अपनी सादगी और मधुरता से भारतीय जनता का मन मोह लिया। शाबाज गलोमदार, जिन्हे सिन्धी प्यार से राजा भर्तृहरि कहते थे, मगर पीर की ही तरह हिन्दुओ के प्रिय बन गये। पाटन के एक सूफी सन्त जो अपने नाम के आगे ब्राह्मण शब्द जोडते थे, सैयद मुहम्मद ब्राह्मण थे। इसी समय हसीरा

प्रेमी अस्सासीन सन्तों का भी उदय हुआ। इस मत के एक सन्त शेख सदरुद्दीन ने समन्वित पंथ निकाला जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव जैसे हिन्दू देवताओं को इस्लाम का पैगम्बर माना गया। इस मत के वर्तमान प्रधान आगा खां हैं। इस सबके फलस्वरूप आस्था के मामले में उदारपंथी और सूफी भ्रातृत्व का प्रसार करने वाली अनेक काव्य-कृतियों की रचना हुई। इनमें सबसे महत्तम रचनाओं में है मलिक मुहम्मद जायसी का महाकाव्य पदमावत जो १६वीं शताब्दी में अवध की बोली अवधी में लिखा गया।

अरब लोग भारत तथा सुदूर पूर्व से व्यापार करते थे। वे बढ़िया नाविक थे और सभी नाविकों की तरह, हर बन्दरगाह पर उनकी एक पत्नी होती थी। पश्चिमी तट की अरब बस्तियों, मलाबार और श्रीलंका में इस नये धर्म के उग्र समर्थक आये और एक ईश्वर और मनुष्यों की समानता का संदेश देने लगे। इस नये मत के उत्साह से लोग बहुत प्रभावित हुए और जब क्रांगानूर के राजा ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया तब अनेक लोगों ने भी धर्म-परिवर्तन किया और मोपलों (मलाबार के अरब निवासियों) के धार्मिक नेता तंगल की पालकी जमूरिन (सामुद्रिक) के साथ-साथ चलने लगी।

११वीं सदी तक अरब लोग पूर्वी तट पर बस गये थे और १३वीं सदी तक कुछ पांड्य शासकों ने मुसलमानों को अपना मंत्री बनाना प्रारम्भ कर दिया। यह गौर किया जाना चाहिए कि भारत पर मुस्लिम आक्रमण के पहले ही हिन्दू राजाओं ने मुस्लिम नौकर रखने शुरू कर दिये थे। शायद कुछ लोगों को आश्चर्य होगा पर यह सच है कि सोमनाथ के राजा की सेना में भी कुछ मुस्लिम योद्धा थे। इन सम्पर्कों का तटीय जनता के जीवन पर काफी प्रभाव पड़ा। मलाबार के निवासियों पर इसका काफी अधिक प्रभाव पड़ा होगा और यह बताने पर चकित नहीं होना चाहिए कि मलाबार के निवासी शंकर के अद्वैत आन्दोलन पर एकेश्वरवादी मुस्लिम धर्म का भी कुछ प्रभाव पड़ा।

अरबों ने ८०८ ई. में दमिश्क और बगदाद में अपने सुप्रसिद्ध अध्ययन केन्द्र स्थापित कर दिये थे जहां वे भारत तथा चीन के ज्ञान-विज्ञान का अनुवाद कर रहे थे। इससे अरबों के साथ-साथ भारतीयों को भी निश्चय ही लाभ हो रहा था। ज्ञान का आवागमन एक तरफ तो हो नहीं सकता। अरबों ने भारत में पहली बार कागज और

बारूद का प्रयोग किया, हालांकि वे बहुत आगे नहीं बढ सके और इनके प्रयोग को स्थायित्व बाबर ने दिया, क्योंकि महमूद के कठोर और घने हमलों से सिंध में भी अरबों के राज्य का हिन्दू राजाओं के साथ-साथ पतन हो गया।

इस्लाम ने हिन्दू समारोहों, सामाजिक रीतियों, विचार और आदर्शों, भाषा और साहित्य, कला और विज्ञान को गहरे रूप में प्रभावित किया। आगे चल कर हम विज्ञान और कला, धार्मिक विश्वासों और सामाजिक आचरण, वेशभूषा और अलंकरणों, भाषा और साहित्य के क्षेत्रों पर इस प्रभाव के नतीजे का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

भारत में आने वाले लोगों में मुसलमानों से अधिक लंबे अरसे तक कोई नहीं रहा। एक हजार साल से वे हिन्दुओं के साथ रह रहे हैं और इस भूमि से प्यार करते हैं। उनकी रचनात्मक प्रतिभा के सर्वोत्तम नतीजे यहीं उपलब्ध हुए और हिन्दुओं के साथ वे उन उपलब्धियों के भागीदार बने।

इस देश को विज्ञान के क्षेत्र में मुसलमानों से वाजिब योगदान मिला। अलबरूनी ने दिखाया है कि अपने आगमन वाली शताब्दी में मुसलमानों ने मुख्यत अरबों ने, हिन्दुओं से बहुत अधिक मात्रा में विज्ञान को विकसित किया था। हिन्दुओं ने यह सत्य स्वीकार किया और उनके वैज्ञानिक अनुसंधानों से तुरंत लाभ उठाया। मुसलमानों ने हिन्दुओं से प्राप्त विद्या में नयी पद्धतियां खोजीं और प्राप्त विद्या में बहुत कुछ जोड़ा। उन्होंने खगोल के अक्षांश और देशांतर से संबद्ध अनेक तकनीकी शब्द, खगोलीय चिह्नों की गणना का नया तरीका, पंचांग (जीच), और ताजिकिस्तान में फारसी भाषा में तैयार किये गये ताजिकी (यह शब्द फारसी के 'तैजी' से बना जिसका अर्थ है 'अरबी') ग्रंथ के अंतर्गत ढेर सारे विज्ञान दिये, जिसका मूल शीर्षक से ही १५८७ में नीलकण्ठ ने संस्कृत में अनुवाद किया। जयपुर के महाराजा जयसिंह (१७४३-१८००) ने, जिन्होंने जयपुर, दिल्ली, मथुरा, बनारस और उज्जैन में वेधशालाएं बनवायी, अरबी की अल मजिस्ती का संस्कृत में अनुवाद कराया। जीच मुहम्मद शाही नामक अपने संपादित ग्रंथ में उन्होंने उलुगबेग, नासिरुद्दीन तूसी, अल गुर्गानी, जमशेद कासी खाकानी और अन्य लोगों द्वारा प्रयुक्त शब्दों का प्रयोग किया है। उसी काल भूरहस्य की कला, जिसको भयभंजन

शर्मा ने अपनी पुस्तक **रमलरहस्य** में प्रतिपादित किया है, फारस से ली गयी।

चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने भारत में यूनानी पद्धति प्रचलित की जिसको अरबों ने यूनानियों से सीखा और सुरक्षित रखा था। स्वयं उन्होंने भारतीय आयुर्वेद का अध्ययन किया और रोगों की चिकित्सा के लिए धातुओं की भस्मों और रासायनिक अम्लों का उपयोग सीखा।

कागज के प्रवेश से भारत में पांडुलिपियां तैयार करने के क्षेत्र में क्रांति हो गयी। पहले भोज और ताड़ के पत्रों पर पुस्तकें लिखी जाती थीं, अब वे कागज पर लिखी जाने लगीं। मुसलमानों ने मीनाकारी—जिसे संस्कृत में **धातुस्नेह** या **कर्चाचित्र** कहते हैं—भारत में शुरू करायी और बीदरी काम गौरवास्पद बन गया। कलई से धातुओं पर चमक लायी गयी। यह प्रक्रिया ईरान से भारत आयी और मुगल राज-कर्मारियों ने कपड़े पर कढ़ाई तथा जरी की असंख्य डिजाइनें रचीं और इत्रों की खोज की।

हिन्दुओं की पाठशालाएं राजाओं के संरक्षण में चलती थीं, इस्लामी शिक्षा मस्जिदों की चहारदीवारी के अन्दर। अब मुस्लिम छात्रों की शिक्षा को एक नयी दिशा मिली जहां व्यापक रूप से नियोजित शिक्षा की व्यवस्था की गयी। ये थे मदरसे, नियमित विद्यालय जहां धार्मिक कृतियों के अतिरिक्त पाठ्यक्रम में चिकित्सा, गणित और ज्योतिष की शिक्षा भी शामिल हुई। दूर देशों से महान् कवि, दार्शनिक, इतिहासकार और न्यायविद् भारत आने लगे। महमूद के दरबार के अलबेरूनी तथा अन्य विद्वानों ने जो कार्य प्रारम्भ किया था, उसको दूसरों ने आगे बढ़ाया; उन्होंने लिखा और विचारा, विचारा और लिखा, और जब उनका लेखन फला तब हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ने उसका स्वाद लिया।

इस चिन्तन-क्रम की बात से एक तथ्य याद आता है : जिसको अक्सर बहुत कम जाना-समझा गया है। वह यह कि क्रूर दुस्साहसिक महमूद कला और साहित्य का महान संरक्षक था। बहुत बदनाम किये गये जिस शासक ने तूफान की तरह भारत में सैंकड़ों मील दूर-दूर तक धावे किये और बाज की तरह अराल सागर के पास ख्वारिज्म पर और बगदाद के पास हमदम तक झपट्टा मारा, उसके पागलपन का अपना ही उदात्त पक्ष था। अपने विजय-अभियानों के अन्तराल में वह ईर्ष्या-योग्य जीवन जीता था और ऐसे कवियों और विचारकों से विचार-

विनिमय करता था जिन्हें किसी भी समय और किसी भी दरबार में रत्न माना जाता। महमूद के दरबार के रत्नों में, जो आमू दरिया के नगरों और कैस्पियन के तटवर्ती क्षेत्रों से, फारस और खुरासान से लाये गये थे, गणितज्ञ-ज्योतिर्विद्-इतिहासकार और संस्कृतज्ञ अल-बरूनी, दार्शनिक अल फराबी, इतिहासकार अल उतबी, 'गपशप संस्मरणों' के लेखक अलबेहाकी, फारसी पुनरुत्थान के प्रारंभिक काल के कवि उनसूरी, फारुकी और असजुदी और उन सब में महान् और अमर कवि फिरदौसी था जिसके शाहनामा में फारस के प्राचीन वीर सजीव और अजर-अमर हो गये। गाथा है कि महमूद ने कवि को ६०,००० स्वर्ण मुद्राएं देने का वायदा किया था, मगर उसे सिर्फ चांदी की मुद्राएं भेजी गयीं जिनकी कीमत ५,००,००० रुपये थी (इतनी रकम देना किसी भी राजा के लिए गौरवास्पद हो सकता है और अगर इसका ढाई-सौवां हिस्सा यानी २०० की रकम अंग्रेजी के महाकवि मिल्टन को मिल गयी होती तो वे आनन्दित और सन्तुष्ट होते)। महाकवि फिरदौसी ने उक्त रकम लौटा दी और एक तीखा व्यंग्य लिख कर वह अपनी सुदूर मातृभूमि खुरासान को लौट गया। अन्ततः जब महमूद ने ५०,००० स्वर्ण मुद्राएं भेजीं तब उनके ले जाने वालों को महाकवि के कफन से ही भेंट हो सकी। महान् दार्शनिक और चिकित्सक इब्न सिना (अविचन्ना) भी महमूद के लिए गौरव हो सकता था, किन्तु जब इस साधारण नागरिक ने उसको सम्मान देने से इनकार कर दिया तब सुलतान की बुलंदी धूल चाटने लगी।

●

: ११ :

इस्लाम का योगदान

ललित कलाओं के क्षेत्र में संगीत और नृत्य, वास्तुकला और चित्र-कला को मुस्लिम जगत् में अपार संरक्षण मिला। चूंकि इस्लाम में मूर्तिपूजा वर्जित है, इसलिए शिल्पकला स्वभावतः ही घाटे में रही, हालांकि दक्षिण के अधिकांश मन्दिरों और उड़ीसा तथा चंदेल के शिल्पित मूर्तियों युक्त मन्दिरों का निर्माण मुसलमानों के आगमन के बाद ही हुआ। यह भी अर्थपूर्ण है कि संगीत के सिद्धांतों पर अधि-कांश ग्रंथ, केवल भारत के नाट्यशास्त्र जैसे ग्रंथों को छोड़ कर, मुसल-मान संगीतकारों द्वारा गायन कला में योग देने के बाद रचे गये।

सूफी संतों ने सहज ही भारतीय संगीत को अपना लिया। वे बगदाद और फारस से आये थे। सुल्तान इल्तुतमिश के दरबार में जिस पहले संगीतकार को गाने की अनुमति मिली थी, वह था हमीदुद्दीन—सूफियों का एक नेता, दार्शनिक और दिल्ली का काजी। संस्कृत में संगीत का महान् ग्रंथ संगीतरत्नाकर १२३८ में, इल्तुतमिश के पुत्र सुल्तान फीरोजशाह के शासनकाल के दौरान, रचा गया। इसमें तत्का-लीन संगीत पद्धतियों और भंगिमाओं पर गौर किया गया है। इस महान् कृति के लिखे जाने तक उस विदेशी संगीत की सभी भाव-भंगिमाएं राज दरबारों में स्वीकृत हो चुकी थीं।

सुलतान अलाउद्दीन खिलजी, जो अन्यथा असामाजिक और क्रूर था, संगीत के प्रति गहराई से समर्पित था और उसने कला को प्रभूत संरक्षण दिया। भारतीय, फारसी और अरबी संगीत पद्धतियों को निकट लाया गया और उसके दरबार में हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों ही धर्मों की दुर्लभ प्रतिभाओं ने आश्रय लिया। चंगी, फतुहा, नसीर-खां, बहरोज, अमीर खुसरो—ये सब अपने-अपने क्षेत्रों के उस्ताद थे।

. अमीर खुसरो, जो खड़ी बोली की कविता का जन्मदाता था जिसका हस्ताक्षरित दीवान ओरियंटल इंस्टीट्यूट, ताशकन्द, में सुरक्षित है,

अपने जमाने के महत्तम गायको मे से था। उसने क्व्वाली और तराना प्रारंभ कराये और जिलुफ, सपरदा, साजगीरी जैसे अनेक रागो का निर्माण किया। उस जमाने का एक सबसे प्रख्यात गायक नायक गोपाल था, जिसे अलाउद्दीन दक्खिन से लाया था। कहा जाता है कि वह खुसरो की उस्तादी के सामने झुक गया था। तबला और सितार (सेह तार, तीन तार) के अन्वेषण का श्रेय इन दोनो को ही दिया जाता है।

हिन्दू और मुस्लिम पद्धतियो के सयोजन से सगीत मे एक नये जीवन का आविर्भाव हुआ और अरबी तथा फारसी राग—जिलुफ, नौरोज, जागुला, ईराक, यमन, हुसैनी, जिला दरबारी, हेज्जाज, समाज—जनता और राजघरानो मे अत्यत लोकप्रिय हो गये। ध्रुपद मरणोन्मुख था, मगर दरबारो के सरक्षण मे वह फिर जीवित हो उठा और कुछ शताब्दियो बाद तानसन ने उसे अपूर्व ऊचाइयो तक पहुचा दिया। ग्वालियर के राजा मानसिह और जौनपुर के सुल्तान हुसैन शरकी, दोनो ही सगीत के अप्रतिम प्रमी थे। राजा मानसिह ध्रुपद के उस्ताद थे और सुल्तान हुसैन ने प्रसिदध राग हुसैनी, कान्हडा और तोडी का आविष्कार किया। उसके दरबार मे हिन्दू और मुस्लिम, दोनो प्रख्यात सगीत के आचार्य थे—नायकबख्श, बैजू (बावरा), पाडवी, लोहग, जुजू, ढोढी और डारू।

अकबर क नवरत्नो म तानसन सबसे बढ कर था। अबुल फजल ने ३८ सर्वश्रष्ठ दरबारी गायक गिनाये है, जो हिन्दू और मुसलमान दोना धर्मों के मानने वाले थे। उनमे माडू के सुलतान बाज बहादुर की सगीत मडली भी आ मिली थी। सम्राट् दवारा सस्थापित धर्म दीन ए-इलाही इतिहास से लुप्त हो गया, मगर जिस सगीत को उसने सरक्षण दिया था, और जिसका पोषण दोनो समुदायो ने किया था, दिन दूना रात चौगुना वह बढता रहा।

जहागीर ने सगीत मे अपने पिता की परम्परा जीवित रखी और उसके सरक्षण मे चतर खा, पार्विजाद, जहागीरदाद, खुर्रमदाद, मक्कू, हमजान और विलास खा (तानसेन के पुत्र) ने तानसेन की आवाज को मरने नही दिया।

शाहजहा ने पडितराज जगन्नाथ और दिरग खा को चादी से तौला। लालखा उस समय के सगीत मे निष्णात था और उसे सम्राट् ने गुण-समुद्र की उपाधि से विभूषित किया।

अग्रजो के प्रवेश ने दरबारी जीवन को खतरनाक बना दिया। फिर भी मोहम्मद शाह रगीला ने, नादिरशाह के आक्रमण के बावजूद,

अदारंग, सदारंग और शोरी आदि के जरिये संगीत की परम्परा को सुरक्षित रखा। शायद खयाल का अन्वेषण खुद सदारंग ने किया था, हालांकि उसे हुसैन शाह शरकी से भी जोड़ा जाता है। शोरी ने पंजाबी **टप्पा** को दरबारी राग में परिणत किया। इसके अलावा **रेख्ता**, **कौल**, **तराना**, **तखत**, **गजल**, **कलबना**, **मर्सिया** और **सोज** के भी गायक थे। अवध और रामपुर के नवाबों ने अपने संरक्षण के द्वारा समन्वित भारतीय संगीत को परिपूर्ण बनाया। वजीर खां **बीनकार**, प्यारेशाह **ध्रुपदिया** मुस्तफा खां **खयाली**, फिदा हुसैन **सरोदिया**, मुहम्मद अली खां **रुबाइया**, इन सभी को मुस्लिम दरबार का संरक्षण प्राप्त था और इनके हुनर में नया संगीत फला-फूला।

नये राग, जो अरब तथा फारस से आये थे, हिन्दुओं में खुद उनके रागों से अधिक प्रिय हो गये। गजल, लावनी, ठुमरी, कव्वाली, धुन, चतरंग मुसलमानों की कृतियां थीं, जिन्हें हिन्दुओं ने स्वीकार कर कृतज्ञता के साथ परिवर्धित किया। मुसलमान संगीतकारों ने वाद्ययंत्रों का आविष्कार किया जिनमें से कुछेक हैं—सारंगी, दिलरुबा, तौस, सितार, रबाब, सुरबीन, सुरसिंगार, तबला और अलगोजा। मुसलमानों की मदद से ही **शहनाई**, **उन्स** (रोशन चौकी) और **नौबत** का हमारा वाद्यमंडल अस्तित्व में आया। तारों को झंकृत करने वाली **मिजराब** मुस्लिम खोज का परिणाम है। यदि शहनाई न हो तो भारतीय संगीत की क्या दशा हो, यह कल्पना की जा सकती है।

ललित कला का एक अन्य पहलू नृत्य है जिसे हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिल कर विकसित किया है। इसकी कत्थक शैली मुस्लिम योगदान से बनी है, जो सदियों से उत्तरी भारत में छायी हुई है। इसमें नर्म और नाजुक स्वर हैं और स्त्री-पुरुष नर्तक वह **पेशवाज** पहनते हैं जो पश्चिमी मुसलमान देशों में पहनी जाती थी। गहरे रंग और चमकदार, सुनहरे और रुपहले कपड़े, कसी कमीज, पाजामा और पतला दुपट्टा और चुन्नरदार कुर्ते से शरीर के सभी अंग उभर उठते हैं और यह पोशाक मधुर गुंजायमान और हलके प्रवहमान स्वरों से मेल खाती है। **पेशवाज** शब्द फारसी का है, मगर इसका मूल आधार **ऋग्वेद** के शब्द **पेशांस** में भी मिलता है।

मुसलमान और हिन्दू, दोनों ही सम्प्रदायों के प्रतिक्रियावादियों की असहिष्णुता और अंध पवित्रतावाद ने नृत्य को दरबारियों की शरण में जाने को मजबूर किया, फिर भी दोनों संप्रदायों के कई

घराने हैं जो उसे अपने पसीने से पाल-पोस रहे हैं। सगीत के क्षेत्र मे तो सम्प्रदायो के बीच विभेद को कभी भी बर्दाश्त नही किया गया।

भारतीय वास्तु शिल्प में नवागतुको द्वारा दिये गये नये प्रतिमानो और शैलियो के कारण परिपूर्ण परिवर्तन आया। प्राचीन प्रतिमान और शैलिया छोड दी गयी और काम्य विदेशी आकारो के स्पर्श ने भवनो में रूपान्तर किया। और यह बात केवल वही के लिए सही नही जहा मुसलमानो का वास था, बल्कि राजस्थान, मथुरा, वृन्दावन, काशी, मदुरा और काठमाडू जैसे स्थानो तक मे यह परिलक्षित होता है।

मुसलमानो ने अरब, फारस, फरगना से अपने नमूने लिये थे, मगर जिन हिन्दू वास्तु शिल्पियो ने उन्हें बनाया, उन्हें स्थानीय बना दिया और मस्जिदो, मकबरो और महलो का रूप स्थानीय हो गया। गुबद और कगूरे, मेहराबे और मीनारे दिल्ली और आगरा, अजमेर और सासाराम, जौनपुर और गौड, मालवा और गजरात के भवनो को सुशोभित कर रही है, और आरभिक चरणो में हिन्दू तथा मुस्लिम कलावस्तु में विभेद कर पाना कठिन हो जाता है।

दोनो की शैलिया दूध-पानी की तरह मिल गयी हैं। निर्धारित करने वाला तत्व मात्र सौदर्य शास्त्र, रूप का सौदर्य, भावना की उदात्तता ही रह जाता है। मुसलमानो ने अपना नव-निर्वाचित गृह ऐसे बनाया जैसा कि पहले कही नही बनाया था। मुस्लिम जगत मे भारत से बाहर कही भी दिल्ली और आगरा से भव्यतर किले नही, कतब स बढ कर मीनार नही, सीकरी के बुलद दरवाजा से बढिया कोई द्वार नही, मोती और जामा मस्जिद से अधिक सुन्दर कोई मस्जिद नही, और ताज के मकबरे से बढ कर कमनीय सुन्दर और आकर्षक कोई मकबरा नही। दुनिया मे कोई देश नही जो भारत में सवर्धित मुस्लिम स्मारको की होड सख्या, विविधता या सौदर्य की दृष्टि से कर सके। प्राचीन जनो ने एक नया जीवन पाया और इसे नयी शक्तियो ने जो ताजगी दी थी उसे अपनाया। आम प्रयत्नो के द्वारा एक समान विरासत रची गयी। राजपूताना के राजाओ ने मुगलो का अनुसरण किया और अपने महल, यहा तक कि अपनी छतरिया मुस्लिम शैली मे बनवायी। वे मुगल वशभूषा पहनते और अपने दरबारो मे भी मुगल शिष्टाचार को बरतते थे।

चित्रकला मे फारसी शैली से बिल्कुल भिन्न एक नयी शैली—मुगल कलम—ने भारत को गौरव प्रदान किया। यद्यपि यह शैली

फारस से आयी थी, मुस्लिम तथा हिन्दू कूंची से पल-पुस कर यह पूर्णत: भारतीय हो गयी। भारत अभी भी गुजरात, दक्खिन और राजस्थान में चित्रकला की अपनी शैलियां विकसित कर रहा था जहां रागों की भाव-भंगिमाएं भी रेखा और रंग द्वारा चित्रित करने का प्रयत्न हो रहा था। लेकिन नये प्रभावों ने हिन्दू कलाकारों को नयी शक्ति दी और उनके सामने सृजन के नये आयाम, नयी गहराई, नयी लय और नया छन्द खोल दिया। चीनी पृष्ठभूमि में उठी चगताई शैली ईरान में चरमोत्कर्ष पर थी और फारसी कलम का सयोग पाकर, मुगल कलम ने एक नया लालित्य ग्रहण किया। इस उल्लेख्य समन्वय ने नयी जमीनें तैयार की और जम्मू और कांगडा की पहाड़ियों में, लखनऊ और पटना और दक्खिन में चित्रकला पुष्पित होने लगी।

मुगल दरबारों ने हिन्दू और मुसलमान कलाकारों को साथ-साथ रखा, और अबुल फजल ने फार्रुख कलमक, अब्दुस्समाद सिराजी, मीर सैयद अली और मिस्कीं के साथ-साथ दसवत, बसावन, केसोलाल, मुकुंद, माधो, जगन्नाथ, महेश, खेमकरण, तारा, सांवला, हरिबंश और राम जैसे चित्रकारों का उल्लेख किया है। पटना में खुदाबक्श लाइब्रेरी में प्रदर्शित भव्य **तैमूरनामा** की पांडुलिपि ने हिन्दू कलाकारों की सूची में अनेक नाम जोड़े गये हैं—तुलसी, सुरजन, सूरदास, ईसर, शंकर, रामजस, बनवारी, नंद, नन्हा, जगजीवन, धरमदास, नारायण, चतरमन, सूरज, देवाजीव, सरन, गगासिंह, पारस, धन्ना, भीम तथा अन्य, जिन्हें दरबार ने काम सौंपा था, जिसके लिए वे ग्वालियर, कश्मीर और गुजरात से आये थे।

शाहजहां के शासन काल में मुगल कलम ने अपने चमत्कार दिखाये, जब मुहम्मद नादिर, समरकदी, पोर्ट्रेट कला के जादूगर मीर हाशिम और मुहम्मद फकीरुल्लाह खां ने कल्याणदास, चतरमन, अनूप, चतुर, राम और मनोहर के साथ एक टीम में काम किया।

औरगजेब ने कला के अंकुरों को जैसे पाले से ढक दिया और इन्होंने छोटे-छोटे प्रांतीय दरबारों और पहाड़ियों में अपने लिए नयी जमीनें तलाशीं जहां वे रगारग और गधमय पुष्पों में फूट पड़ीं। कई स्थानों पर आज भी वे जीवित हैं, हालांकि योरप की नयी तकनीक उन्हें निगलती जा रही है।

मुगल कलम की श्रेष्ठता और महत्व इतना अधिक है कि उसकी उपलब्धियों पर थोड़ा प्रकाश और डालने की आवश्यकता है। मुगलों

का शौक था पुस्तके उपलब्ध करना, उनको अमर और आकर्षक चित्रो से सज्जित कराना और उनसे अपने पुस्तकालयो को समृद्ध करना। आगरा और दिल्ली मे शाही देख-रेख और सरक्षण मे पुस्तको के बडे बडे सग्रहालय स्थापित किये गये। पाण्डुलिपियो के लिए दूर-दूर के देशो के कोने छान कर शाही सौदागर भारी कीमते अदा कर महान् कृतिया खरीदते थे। अगर वे चित्रपूर्ण होती तो मुगल दरबार के कुशल कलाकार उन्हे अपनी तूलिका से सवारते-सभालते थे। अगर उनमे चित्र नही होते तो उनको पुस्तकालय मे उचित स्थान पर रखने से पहले उनमे सगत चित्र जोड दिये जाते थे। यह काम सैकडो चित्रकारो का दल करता था जिनमे से कुछ लोगो की विस्तृत सूची अबुल फजल ने दी है। आगरा के शाही पुस्तकालय मे २४,००० पुस्तके थी जिनमे से लगभग सभी सचित्र थी। इनमे से अधिकाश पुस्तकें विजताओ के लोभ और कलाकृतियो के व्यापारियो की मुनाफाखोरी के कारण अब दुनिया के विभिन्न सग्रहालयो मे पहुच गयी है। कुछ विशिष्ट पुस्तके आज पटना के खुदाबख्श पुस्तकालय मे सुरक्षित है।

किताबत, हाशियागरी और जिल्दसाजी का भी उतना ही गौरवपूर्ण स्थान था जितना मुगल चित्रकला का। किताबत का विकास मुख्यत चीन मे हुआ जहां प्रत्येक अक्षर का अकन एक नन्हे से चित्र या सूक्ष्म रखावन के रूप मे होता था। ईरान तथा अन्य मुस्लिम देशो मे इसको सुधारने-सवारने के लिए उर्वर भूमि मिली। चूकि मनुष्य का चित्राकन मूर्ति-पूजा के वर्जित होने के कारण मना था, चित्रकारो ने अपने कौशल को हस्तलिपि सुन्दर बनाने मे किया। यद्यपि ईरान मे मनुष्य का चित्र न बनाने की हद तक कभी पाबन्दी नही रही, फिर भी वहा किताबत का भी विकास किया गया। लेकिन मुगलो ने भारत मे इस कला को सर्वांग सम्पन्न किया क्योकि कट्टर धार्मिक वर्जनाओ के दमन को वे काफी आगे तक ले गये। इसी प्रकार हाशियागरी को भी मुगल विशषज्ञो ने इस बारीकी से विकसित किया कि वे दुनिया मे अपने किस्म के श्रष्ठ उदाहरण बन गये। पुरानी पाण्डुलिपियो को सुरक्षित रखने की दिरष्टि से चमडे की जिल्दसाजी की कला मे इटली और फ्रास—इटली मे विशेषकर वेनिस नगर—ने कशलता उपलब्ध की थी। वास्तव मे चीन की ही तरह, उन्होने भी एक मुश्किल मिसाल पेश की जिसकी नकल कर पाना कठिन था, मगर मुगल जिल्दसाजो ने इस कला मे अपनी अनन्य प्रवीणता स्थापित कर दी।

जिल्द, खुदे हुए अक्षरो और सारी साज-सज्जा मे ऐसी कोई बात नही बची जिसकी और आवश्यकता हो और इस प्रकार उन्होने जिल्दसाजी की दुनिया मे एक चमत्कार पैदा कर दिया। जो भी कुछ गौरवशाली था, वह सब मौलिक और अनूदित ग्रन्थो के रूप मे और सूक्ष्म चित्रो से साज कर जुटा लिया गया था। इन सचित्र पुस्तको के एक पृष्ठ की भी दुनिया के कला-बाजार मे भारी कीमत मिल सकती है। बड़ी से बडी कीमत पर उन पुस्तको को हासिल किया गया था।

कुछ अपवादो को छोड़ समस्त मुगल चित्रकारी कागज पर की गयी थी। चीनी चित्रकारी की तरह उसको सिल्क पर कभी नही किया गया। मुगलो के साये भारत-ईरानी कलाकार टीम की तरह काम करते थे। चित्रफलक को पहले वे चौकोर रेखाओ से घेर देते। पुस्तक के छोटे चित्र अंकित करने से पहले वे लाल या काली खड़िया से रेखाचित्र बनाते और उसके बाद उसमे आवश्यक रग भरते थे। मूल्यवान पुस्तको को सचित्र बनाने के लिए वे जटिल प्रणाली का उपयोग करते थे। वे पृष्ठ खाली छोड़ देते, स्वतंत्र रूप से चित्र तैयार करते और उसको खाली स्थान मे चिपका देते थे। पहले अरबी गोद पानी मे मिला कर एक घोल तैयार किया जाता था। इसको पृष्ठ पर लगा दिया जाता था और इस तरह जो चिकनी और चमकदार सतह तैयार होती थी, उस पर रेखाचित्र बनाया जाता था। तैल-चित्र प्रणाली के अनुसार रगो की कई तहे जमायी जाती थी। कभी-कभी मोतियो, हीरो और सोने का प्रभाव पैदा करने के लिए इनके कण चिपका दिये जाते थे और इस प्रकार चित्रित व्यक्ति के आभूषणो के असली होने का वाछित भ्रम पैदा किया जाता था। यह काम सूईकारी से अधिक सूक्ष्म था और मुस्लिम विशेषज्ञो के साथ हिन्दू चित्रकार टीम के रूप मे काम करते हुए गिलहरी के बालो से बने ब्रुशो से वह कला सम्पन्न करते थे। जहां काम बडा बारीक होता, वहा कभी-कभी एक बाल के ब्रुश का उपयोग किया जाता था। जब एक चित्र पर कई चित्रकार काम करते तब प्रत्येक कलाकार की विशिष्ट प्रतिभा को विशेष स्थल चित्रित करने के लिए उपयोग किया जाता था। उदाहरण के लिए, एक चित्रकार घोल तैयार कर पृष्ठभूमि बनाने का काम करता, दूसरा रेखांकन तैयार करने मे पटु था और रेखाचित्र तैयार करता था और तीसरा उसको आवश्यक रगो से भर देता था। दक्षिण केंसिंग्टन संग्रहालय मे सुरक्षित अकबरनामा मे अधम खान की फांसी के चित्र मे रेखांकन मिस्किन ने किया था, लेकिन रग

शकर ने भरे थे। एक और चित्र मानवाकृति मे रेखाचित्र मिस्किन ने तैयार किया था, रग भरने का काम सरवन ने किया, तीसरे चित्रकार न चित्र के उभार तैयार किये और चित्र बनाने और सम्पन्न करने का काम माधो ने किया था। रगो के उपयोग और उामे नजाकत पैदा करने म हिन्दू और मुसलमान चित्रकारो ने अपने ईरानी उस्तादो को मात कर दिया था। प्राकृतिक चित्रण के क्षत्र मे ईरानिया मे उनका कोई सानी नही था।

जैसा ऊपर बताया गया है, पुस्तको म बनाये जाने वाले छोटे चित्रो का निर्माण मुगल काल मे बडे पैमाने पर किया गया। **रामायण** और **महाभारत** दोनो का ही फारसी मे अनवाद किया गया और आकर्षक लघु चित्रो स उनको सचित्र बनाया गया। **महाभारत** के अनुवद का नाम है **रज्मनामा**। इसी सचित्र शैली म **दास्तानेहमजा** तैयार किया गया। **रसिकप्रिया** की चमत्कारपूर्ण चित्रो से सज्जित पाण्डुलिपि भी सुरक्षित है। सचित्र प्रतिलिपि बनान की कला का वह सर्वश्रष्ठ उदाहरण है। इसी प्रकार एक और सचित्र पस्तक **तैमूरनामा** की प्रति खुदाबख्श पुस्तकालय की अमूल्य निधि है।

सचित्र पुस्तको के अतिरिक्त पोर्ट्रेट चित्राकन भी हिन्दू और मुसल मान चित्रकारो को समन्वित साधना की उपलब्धि है। मगल सम्राटो और राजकुमारो के कुछ पोर्ट्रेट अप्रतिम और अनन्य है। इनमे स कुछ लन्दन के इडिया आफिस पस्तकालय मे प्रदर्शित है। वे दाराशिकोह के अल्बम के अग थे जिसको उसने अपने हस्ताक्षर सहित सप्रम नादिरा बगम को भट किया था।

पशु-पक्षियो के चित्र मुगल उस्तादो की महत्तम कला-उपलब्धियो मे से है। इस क्षत्र मे मसूर का कोई सानी न्ही था। जहागीर के सरक्षण मे बनाये गये मुर्ग के चित्र, जो अब कलकत्ता आर्ट गैलरी मे सुरक्षित है, की बराबरी चीनी उस्ताद भी नही कर सकते जिन्हे पशु पक्षियो के सर्वोत्तम चित्र बनाने का श्रय दिया जाता है।

भारतीय पोशाक मे भारी तबदीली आयी। शक और कुषाण लोगो ने यहा ईरानी पदधति चलानी चाही और विफल रहे। लेकिन मुगल दरबारो ने एक नया नमूना पश किया और मगल पोशाक पहन मानसिह और महावतखा मे फर्क कर सकना कठिन हो गया। यह अत्यत हर्षजनक है कि मुगल सल्तनत के कट्टर दुश्मन राणा प्रताप और शिवाजी तक भव्य मुगल पोशाके पहनते थे। मुगलो ने जो कछ

शुरू किया था उसे अवध के नवाबो ने सर्वांग सम्पन्न बनाया और भारतीय सरकार ने अचकन तथा पाजामा को अपनी राष्ट्रीय पोशाक मान लिया। तुर्क, पठान और मुगलो द्वारा प्रचलित जुराब और मोजा, जोरा और जामा, कुर्ता और कमीज, ऐचा, चोगा और मिर्जई दिल्ली और लखनऊ के दरबारो में भी उसी प्रकार पहनी जाने लगी, जैसे बंगाल के पंडितो द्वारा।

इस सिलसिले मे, मुसलमानो ने हिन्दू वधू को जो एक अत्यंत महत्वपूर्ण आभूषण दिया है, उसका उल्लेख उपयोगी होगा। नथ आज हिन्दू विवाह का अनिवार्य प्रतीक बन गयी है। नथ को किसी भी हिन्दू देवी की मूर्ति ने धारण नही किया; यही नही, संस्कृत भाषा के अपार शब्द भंडार और शब्दकोशो मे इसके लिए कोई शब्द नही है। असूरी (असुर) अपने बंदियो की नाक मे रस्सी पिरो देते थे। यह उनके अधिकार का प्रतीक था। अरबो ने इसे भारतीय वधू को उपहार मे दिया, उसी प्रकार, जैसे कि तुर्कों ने उसे बुलाक या लोलक दिया, जो नाक से ऊपरी होठ तक लटकने वाला एक भारी गहना है। मुगलो ने हिन्दू दूल्हे के सिर सेहरा और मौर बांधा।

खाने-पीने के क्षेत्र मे भी नयी चीजे और नये प्रतिमान अस्तित्व मे आये। भारत मे बहुत पहले से आपानक का प्रयोग होता रहा है। लेकिन मुगलो ने पीने और खाने मे नयी लज्जत पैदा की।

सबसे अद्भुत बात तो यह है कि भारत ने अपनी सभी भाषाओं मे **रोटी** (फुलका और चपाती के अर्थ मे) शब्द को ग्रहण कर लिया है। रोटी (रोती) तुर्की शब्द है। संस्कृत मे **रोटी** का कोई समानार्थक शब्द नही, और **तवा** का भी नही, जिस पर रोटी सेकी जाती है।

इससे हम अत्यंत रोचक, अत्यंत विवादास्पद विषय—भाषा—पर आ जाते है। लेकिन चूंकि वह अतिशय महत्वपूर्ण है, हम उसे अपने मौजूदा विषय से अलग ही विवेचित करेगे। यहां इतना ही कह देना आवश्यक होगा कि मुसलमान अपने पश्चिमी और मध्य एशियाई देशो के मूल निवास-स्थानो से अनेक विचार लेकर आये जिनसे भारतीय सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था पर प्रभाव पड़ा और वे कई प्रकार मे समृद्ध हुए। इनमे से अधिकांश की चर्चा हम कर चुके है। कम प्रभाव नही पड़ा यहां की भाषा और साहित्यो पर जिन्होने फारसी, अरबी और तुर्की मूल के अनेक शब्द, वाक्यांश और मुहावरे लिये जो उन भाषाओं के बोलने वालो के आने के साथ इस देश मे आये। पंजाबी, जिसने सबसे पहले आक्रमणकारियो का सामना किया, राज-

स्थानी गुजराती मराठी, बगला असमिया उडिया हिन्दी इन सभी ने उधार शब्दो का अपना हिस्सा पाया जो अन्तत उनक शब्द भण्डार के अग बन गय। दक्षिण की चारो भाषाए भी इस अछूती नही रही मुसल्मानो की बोली और लिखित भाषा का प्रभाव इतना व्यापक था। सबस अधिक प्रभावित हुई हिन्दी जो शब्दावली और शैली म स्वय तो प्रभावित हुई ही उसके फलस्वरूप मानो उसन एक रूप म जन्म लिया जिस उर्दू कहत ह और जिसन नयी विरासत को सर्वांग स इस्तमाल किया और फारसी लिपि म दाय म बायी ओर लिखी जान लगी। एक नय साहित्य का जन्म हुआ उर्दू साहित्य का जो इसी भूमि की उपज थ यहा ही बोला लिखा और विकसित किया गया। इस पर कुछ और विशष रूप स हम अगल अध्याय म विचार करग।

●

: १२ :

उर्दू भाषा

भारत को मुसलमानों का एक महान् स्थायी योगदान भाषा और साहित्य के क्षेत्र में मिला। इसी योगदान ने उर्दू भाषा को जन्म दिया और हिन्दी भाषा तथा साहित्य को विकसित और समृद्ध किया। हिन्दी खड़ी बोली का गद्य अधिकांशतः और पद्य प्रायः पूर्णतः मुस्लिम सृजन है। १३वीं सदी से पहले या अमीर खुसरो से पहले कोई हिन्दू या हिन्दी कवि नहीं हुआ। मैं यहां ब्रजभाषा, अवधी और भोजपुरी जैसी बोलियों की बात नहीं कर रहा हूं।

सर्वप्रथम, हमें स्वीकार करना होगा कि उर्दू भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से कोई नितांत स्वाधीन भाषा नहीं है। वह खड़ी बोली से बंधी हुई है जिसकी यह पूर्ववर्ती भी है और जन्मदात्री भी। दोनों ही भाषाएं, या वस्तुतः शैलियां, एक भाषा बनाती हैं जिसे हम सुविधा के लिए हिन्दी कह सकते हैं और इसलिए भी कि हिन्दी की अवधारणा एक बृहत्तर सम्भावना तथा क्षेत्र का संकेत देती है जो भव्य तथा महाकाव्यीन स्तर पर विकसित होने में सक्षम है।

उर्दू और हिन्दी दोनों ही मूलतः एक हैं क्योंकि दोनों में ही समान क्रियाएं प्रयुक्त होती हैं और उनका व्याकरणीय ढांचा भी समान है। जब दो प्रतीयमान भाषाओं की क्रियाएं एक ही होती हैं, तब वह भाषा भी एक होती है।

लेकिन यह कहना कि उर्दू सिर्फ हिन्दी की एक शाखा है, काल-दोष होगा। क्योंकि अव्वल तो उर्दू पहले आयी। दूसरे, ऐसा कहना ईमानदारी भी नहीं होगी। कारण कि यदि ऐसा होता तो हिन्दी और उर्दू के पाठ्क्रम सभी विश्वविद्यालयों में एक-से होते, और हिन्दी विभाग यदि फारसी लिपि न भी पढ़ाते, तो भी, उर्दू के निर्माता मीर तकी, सौदा, जौक और गालिब को तो जरूर ही पढ़ाते होते।

पुनः, हालांकि प्रेमचंद और प्रसाद सूर तथा तुलसी के निकट

सांस्कृतिक रूप से भले ही हों, मगर भाषाविज्ञान की दृष्टि से वे उनसे दूर हैं और उर्दू के लेखकों के निकट हैं, क्योंकि दोनों ने ही खड़ी बोली में लिखा है, जबकि सूर और तुलसी ने उपभाषाओं या बोलियों में लिखा है। इसलिए सूर और तुलसी के लिए हिन्दी में जगह देने से पहले उनके लिए हिन्दी में जगह खोजी जानी चाहिए थी, प्रेमचन्द और प्रसाद के साथ-साथ। और यह अधिक तर्कसंगत भी होता।

दूसरे, उर्दू कोरी शैली नहीं है। यह एक पूर्ण विकसित भाषा है जिसे इतने सारे भारतीय बोलते हैं और अपनी भाषा घोषित करते हैं। राष्ट्रीय भाषाओं के रूप में संविधान में वर्णित अनेक अन्य भाषाओं की तुलना में उर्दू भाषियों की संख्या अधिक है। इसका अपने आप में महत्व है और यह महत्व महज इसलिए नहीं है कि एक अन्य देश ने इसे अपनी राष्ट्रीय भाषा घोषित कर दिया है, हालांकि इसे वहां कोई नहीं बोलता। (पाकिस्तान में पश्तो और पंजाबी बोली जाती है)।

इसका शब्द समुच्चय, मुहावरे और कहावतें, इसके दवारा विकसित काव्यरूप, शैली, परम्परा—साहित्यिक और सांस्कृतिक, दोनों ही—सभी इसकी अपनी है। उर्दू को हिन्दू-मुसलमान दोनों ने मिल-जुल कर रचा और विकसित किया है, और यह केवल भारत की ही भाषा है। यह भारत की सर्वसामान्य विरासत है।

यह न भुला जाय कि इस भूमि की प्रतिभा का विकास एक अलग तरीके से हो रहा था। प्राकृतों और अपभ्रंशों से प्रांतीय भाषाएं उपजीं—मराठी, गुजराती, बंगला, उड़िया, असमिया, हिन्दी की ब्रज, अवध, भोजपुर, मिथिला, राजस्थान की बोलियां।

केवल उर्दू ही खड़ी बोली को उस राजपथ पर ले जा रही थी जो भारत की सम्पर्क भाषा होने वाली थी और जो इतनी सारी विराट सम्भावनाओं के साथ बढ़ रही थी।

यह भी गौर करने की बात है कि एक समय तो करीब सब अभिजात प्रशिक्षित हिन्दू मान तथा पैसा कमाने के लिए अरबी—और खास कर फारसी—का अध्ययन और विकास कर रहे थे। लेकिन अनेक मुसल-मान, अपने इन दो शताब्दियों के दौर पर्यन्त उर्दू का अध्ययन और विकास कर रहे थे तथा हिन्दी भाषा साहित्य का अध्य-यन उत्तर और दक्षिण, दोनों ही क्षेत्रों में निःस्वार्थ भाव से कर रहे थे।

इस विकास का नतीजा क्या हुआ है? हिन्दी (और उर्दू भी) भाषा और साहित्य का सृजन तथा संवर्धन। कुछ शुद्धतावादियों ने अरबी, तुर्की और फारसी के महत्वपूर्ण और व्यंजक शब्दों को अलग करने और इस तरह तथाकथित विदेशी प्रभाव से भाषा (हिन्दी) को मुक्त करने का प्रयत्न किया है। यह भोंडेपन की हद है और जताती है कि भाषा के आकार-ग्रहण की प्रक्रिया से वे कितने अपरिचित हैं।

हमारी सरकारी संस्थाओं ने (जिनमें अधिकांशतः ऐसे ही कट्टर प्रतिक्रियावादी भरे हैं और जिनमें से प्रगतिशीलों को जानबूझ कर बाहर रखा गया है) पारिभाषिक (टेक्नालाजिकल) शब्दावली देने की तथाकथित प्रक्रिया में इस ओर पहला कदम उठाया है। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय शब्दों और सिद्धांतों को लक्षित करने से इनकार किया है, जिससे भाषा अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में समझ में आने लायक हो सकती थी। उन्होंने उन अरबी, फारसी और तुर्की शब्दों का बहिष्कार कर दिया है जो सदियों से इस्तेमाल होते आ रहे हैं और जिन्होंने भाषा को समृद्ध बनाया है; उनकी जगह उन्होंने अनुपयुक्त तथा अधिकतर गढ़े हुए संस्कृत शब्द रख दिये हैं जो संस्कृत भाषा में भी कभी प्रयुक्त नहीं हुए।

एक उदाहरण काफी होगा। ऐसे सैंकड़ों अरबी, फारसी और तुर्की शब्द हैं जो न केवल कानूनी शब्दावली की रीढ़ थे बल्कि पिछले चार सौ वर्षों से कचहरियों, वकीलों और प्रार्थियों के कानूनी कारोबार में सैद्धांतिक रूप से प्रयुक्त होते रहे हैं। इनसे कानूनी न्याय की सभी जरूरतें और परिस्थितियां अभिव्यक्त होती थीं। ये शब्द अभिव्यक्ति के प्रयोग में आते-आते स्थापित हो गये थे, सैद्धांतिक और समुचित थे। लेकिन अब उन पर इस कदर प्रतिबंध लग गया है कि उस शब्दावली में लिखे मसविदे को सरकार कभी भी अनुमोदित नहीं करती।

मसलन, कानून की जगह विधि शब्द का उपयोग कानूनी और भाषाई, दोनों ही दृष्टियों से गलत है, क्योंकि इसकी अन्य सीमाओं के अलावा, यह कभी भी इस अर्थ में इस्तेमाल ही नहीं हुआ। कम से कम विधि के साथ-साथ कानून शब्द भी जारी रखना चाहिए था, ताकि वैकल्पिक शब्द के होने से भाषा समृद्ध होती।

आखिरकार, शुद्धतावादी कितना ही यत्न क्यों न करें, कुछ शब्द वे कभी भी नहीं निकाल सकते। शायद वे यह जानते भी नहीं कि ये शब्द विदेशी हैं। इनकी संख्या हजारों है, इनमें से केवल कुछेक ही उद्धृत किये जा सकते हैं। ये यहां दिये जा रहे हैं :

बंदूक, तोप, अमल, कागज, जागीर, माफी, परवाना, सराय, आराम, नजराना, कारीगर, बाग, कफन, ईमानदार, हराम, चपरासी, बही, गबन, मद, कुर्की, मिसल, खानातलाशी, बारूद, हवलदार, जमादार, मोर्चा, गोलदाज, हरावल, सिपाही, किरच, संगीन, सुरंग, (यह शब्द संस्कृत में भी है और इसका मूल है यूनानी शब्द **सीरिन्क्स**), गुलेल, तमंचा, देहात, मोहल्ला, परगना, जिला, बादशाह, दीवान, नवाब, जमींदार, सूबेदार, सरदार, हाकिम, नौकर, मुलाजिम, हरकारा, चोबदार, मुख्तार, मुनीम, पेशकार, कारिंदा, दारोगा, दरबान, दफ्तरी, पैरोकार, मुंशी, बयान, फरार, हिरासत, जिरह, सुराग, गिरवी, तामील, जब्त, बहस, हैसियत, हवली, आवारा, दस्तूर, हुलिया, सरकार, आबकारी, हवालात, नजरबंद, गश्त, मालगुजारी, सिक्का, कलम, कलमदान, सोख्ता, तख्ती, स्याही, दवात, पर्चा, मुहाविरा, जिल्द, जिल्दसाज, लिफाफा, पता, साफा, सदरी, सलूका, कुर्ता, तलवार, तहमद, मिर्जई, लुंगी, मोजा, जुराब, फतुही, कमीज, पाजामा, चादर, तोशक, रजाई, लिहाफ, तकिया, गुलूबंद, इजारबंद, शाल, दस्ताना, जामा, जोरा, रूमाल, बगलबंदी, बिस्तर, चम्मच, चिलमची, मशाल, मशालची, तब्ला, तबलची, प्याला, सुराही, तसला, तश्तरी, तंदूर, मर्तबान, सरपंच, बाली, कलगी, मुलक, नथ, बर्फी, बालूशाही, कलिया, कोफ्ता, कबाब, शोरबा, पुलाव, ताहरी, फीरनी, हलवा, गुलाब, इत्र, मसाला, अचार, मुरब्बा, नाश्ता, मैदा, सूजी, बेसन, नमक, रोटी, चपाती, तवा, बादाम, मुनक्का, किशमिश, शहतूत, अंजीर, नारंगी, पिस्ता, सेब, शरीफा, तरकारी, सब्जी, शलजम, चुकन्दर, पोदीना, कुल्फी, प्याज, लहसन, तरबूज, खरबूजा, गाजर, कद्दू, गजक, जलेबी, कलाकंद, समोसा, बालाई, मलाई, शीरा, चाशनी, मिसरी, बरफ, चरस, सुल्फा, हुक्का, चिलम, तम्बाकू, नशा, अफीम, अबीर, गुलाल, खिजाब, सुरमा, शीशी, शीशा, ऐनक, चश्मा, मेज, कुर्सी, आराम-कुर्सी, तख्त, गलीचा, कालीन, जाजिम, चिक, पर्दा, शामियाना, कनात, मसनद, बजाज, बेलदार, मिरासी, दलाल, दर्जी, दूकान, दूकानदार, पहलवान, रंग, रंगसाज, रंगरेज, सईस, सर्राफ, पेशा, रोजगार, कैंची, हज्जाम, हजामत, बखिया, आस्तीन, जेब, पहुंचा, कलई, अस्तर, इस्तरी, चारखाना, चारजामा, चिकन, कलाबत्तू, किमखाब, मखमल, मलमल, रेशम, गज,

गिरह, करघा, चरखा, दरी, दालान, बखरी, नाड़ा, बुरादा, नगीना, सल्मासितारा, तकाजा।

बहरहाल, ये हजारों अन्य शब्दों में से कुछेक हैं जो हिन्दी में एकांतिक रूप से और समानार्थक सहित प्रयुक्त होते रहे हैं। क्या गांधी जी के चर्खा से या दैनंदिन रोटी या चपाती से अधिक महत्वपूर्ण कोई शब्द हो सकता है?

: १३ :

अन्त्यालोचन

भारतीय सस्कृति के निर्माण मे अतिम, किन्तु प्रभावशाली योगदान योरपीया ने, मुख्य रूप से अग्रजो न किया है। राष्ट्रवाद का बोध, राजनीतिक-भौगोलिक एकता, स्वतत्रता-प्रेम—इस सपर्क के ये कुछेक ही नतीजे है। राजनीति, सामाजिक जीवन, और औदयोगिक प्रयत्नो के क्षत्र मे, कला और साहित्य पर, वस्तुत दिरश्य और अदिरश्य सभी वस्तुओ पर उनका प्रभाव महसूस किया गया। उनके विज्ञानो ने भारतीय जीवन को पूर्णतर और सुगमतर बनाया। उनका साहित्य हमारे साहित्यकारो की कृतियो मे से झाकता है और उनकी साहित्यिक धाराओ ने प्रयोगो के नये आयाम खोले है। हम उन्ही की लाइनो पर अपनी ससद और विधायिकाए, न्यायालय और शिक्षा सस्थाए चला रहे है।

उनके प्रयत्नो से हमारे अतीत का गौरव उदघाटित हुआ है, हालाकि हमशा ईमानदारी से नही। उन्होने हमारी सस्कृति के गडे हुए खजाने खोद निकाले है और हमारे शिलालखो को पढ कर हम सुनाया है तथा अशोक को खोज निकाला है। सैकडो गलतियो के बावजूद भारतीय सस्कृति को उनका योग महान और स्थायी है। हम उनसे लडे और हमने उन्हे निकाल बाहर किया और गुलामी की जजीरे तोड डाली, इस तथ्य के कारण हमे उन उपलब्धियो से आख न्ही मूद लनी चाहिए जो पश्चिमी जगत् से उनके सपर्क से हमे हासिल हुई है।

उनका उद्देश्य भले ही यह न रहा हो—विजताओ और शोपको का यह उददेश्य कभी नही होता—फिर भी उनके सपर्क से हम आधुनिक विचारो से अवगत हुए है और हम उस दुनिया के रू ब-रू खडे हुए है जिसके हम अजनबी थे और जो हमारे जानबूझ कर तथा सकल्पबद्ध

अलगाव में स्वयं को बंदी बनाने का नतीजा था। हमारे निकटस्थ अतीत का संक्षिप्त विवेचन इसे स्पष्ट कर देगा।

जिस समय क्रिस्टोफर कोलंबस अमरीका की तलाश में अतलांतिक पार कर रहा था, एक साहसी और दिलेर पुर्तगाली नाविक केप आफ गुड होप से भटक कर कालीकट के तट पर आ लगा। अफानासी निकितिन, तीन सागरों को पार करते हुए (खोजोनियां जा त्रिमोरिया), मार्को पोलो और इब्न बतूता पहले ही स्थल मार्ग से भारत आ चुके थे, मगर पश्चिमी भारत के तट प्रदेशों में अल्बूकर्क का पहुंचना इस धरती के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ता है। इससे भारत योरप के साथ सीधे और सुगमतर संपर्क में आया और योरपीय नाविकों ने तुरत ही दक्षिणी सागरों में एक नये पथ को खोल दिया और श्रीलंका होकर चीन तक जहाज चलने लगे।

पुर्तगालियों ने तुरत ही समुद्री डकैती शुरू कर दी और हज के यात्रियों से सुरक्षा के लिए वे टैक्स वसूलने लगे। कहा जाता है कि महान् अकबर की चाची से भी एक बार ऐसा टैक्स वसूला गया था। सागर में मुगल सम्राट् इतने कमजोर थे!

योरपीयों—डाकुओं, साहसिकों और राजनयिकों—ने सोलहवीं सदी से ही भारत आना शुरू कर दिया था। १८वीं सदी तक वे भारतीय राज्यों के मामलों में देश भर में हस्तक्षेप करने लगे थे। वे उनकी लडाइयां लड़ते और कारोबार का इंतजाम करते थे। शताब्दी के अंतिम चरण और १९वीं सदी के आरम्भ में वे देश के मालिक बन बैठे। न्याय के प्रति कोई आदरभाव न दिखाते हुए, जनता और जन शासकों को निर्ममता से कुचलते हुए, रिश्वतें लेते और विधवा रानियों को लूटते हुए, ईस्ट इंडिया कंपनी के नौकरों ने अपनी बद-कमाई का प्रदर्शन किया। इसकी मदद से विवेकशील जनों को हराया और ब्रिटिश संसद में खुद अपने चहेतों को ला बैठाया। एडमंड बर्क जैसे व्यक्तियों के भाषण या राजा राममोहन राय जैसे लोगों की दलीलें भी अंग्रेजों के मुंह पर शिकन तक नहीं ला सकीं। कंपनी के दफ्तरों में काम कराने हेतु क्लर्कों का उत्पादन करने के लिए विश्वविद्यालय बनाये गये और दमन का प्रतिरोध करने वाले जन-असंतोष को कुचलने के लिए जल्दी सेना भेजने हेतु रेलें बिछायी गयीं।

सेनाएं बगावत करती रहीं और लोग जीवन-मरण के संग्रामों में कूदते रहे। गांवों और शहरों में बटवृक्षों पर शहीद लटकाये जाते

रहे, मनुष्यों का सफाया आम बात हो गयी। यह सब भारत को ब्रिटिश ताज का उपनिवेश बनाने, कच्चे माल के भंडार पर कब्जा करने और विलायत में निर्मित वस्तुएं यहां के बाजार में बचने के लिए किया गया था, साम्राज्यवादी प्रसार का यही एक और प्रमुख लक्ष्य रहा है। १९२६ तक में देश में बिकने वाले भारतीय वस्त्रों पर तो टैक्स लगाने के लिए कानून बना, लेकिन आयातित विलायती कपड़ा निःशुल्क बिकता रहा। डिग्बी की **प्रास्पेरस ब्रिटिश इंडिया** और गणेश दउस्कर की **देश की बात** पुस्तकें सत्ताधारियों की करतूतों का पर्दाफाश करती हैं।

लेकिन तुर्क, पठान और मुगलों तथा उनसे पूर्व यूनानियों, ईरानियों, शकों, कुषाणों, गुर्जरों, अहीरों, जाटों और हूणों से विपरीत रूप में, अंग्रेज लोग यहां बसने नहीं आये थे। वे यहां कमाने और शोषण करने आये थे। उनमें और उनके पूर्ववर्तियों में यही मूल अंतर था। भारत में घुसने वाले विजेता दलों में अंग्रेज ही एकमात्र ऐसे शासक थे जो इस देश को अपना घर बनाने नहीं आये थे और उन्होंने वही किया जो उन जैसे लोग किया करते हैं। उन्होंने देश पर कब्जा किया, इसे लूटा और दुहा और अपनी सारी अवैध कमाई समुद्र पार ढो ले गये। और जब भारत का व्यापार-उद्योग पर्णत अपंग और विस्थापित हो गया, तब देश हर चीज के लिए ब्रिटिश टापुओं पर निर्भर करने लगा। और जब वे हर तरह से भारत के मालिक बन गये, तब उन्होंने अपने शोषण और शर्मनाक कारनामों को वैध बना दिया।

एक के बाद एक विद्रोह हुए फिर भी आजादी नहीं मिल सकी। और आखिरकार दो सौ वर्ष बाद १९४७ में अनंत बलिदानों तथा शहादतों के बाद भारत को आजादी मिल पायी।

लेकिन इन सम्पर्कों से जो लाभ हुए, वे हानि के पलड़े के बराबर पहुंचते हैं। क्योंकि इन शताब्दियों के दौरान भारत बौद्धिक रूप से समृद्ध हुआ। महान् सांस्कृतिक आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ और प्रबुद्ध नेतृत्व ने पूर्व और पश्चिम के बीच रुकावटें तोड़ने की कोशिश की। मैकाले या किपलिंग—किसी भी अंग्रेज ने यह नहीं चाहा था। अपने अभिशप्त होने के बावजूद भारत ने सहानुभूति, जोश और गर्व से शेक्सपियर, मिल्टन और मिल आदि का अध्ययन किया। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से उसने योरप के तमाम साहित्यों का अध्ययन किया—उनके गटे और शिलर, लेसिंग और हर्डर, रूसो और

वोल्तेयर, होलबाख और हेलवेशियस, हाइने और ह्यूगो, गोगोल और पुश्किन, मार्क्स और एंगेल्स, तुर्गनेव और तोल्सतोइ, लेनिन और बुखारिन, गोर्की और शोलोखोव, फास्ट और फ्रास्ट तथा अन्य सभी को जिन्हें पश्चिम भेंट कर सकता था।

जो कला रवि वर्मा ने केरल में शुरू की, उसको गुजरात ने नई दिल्ली में सम्पन्न किया। माने और मोने, सेजान और सुरत, गोमें और गोग, क्ली और दाली, जार्ज ब्रोक और पाब्लो पिकासो जिस कला को पेरिस में पकड़ने का प्रयत्न कर रहे थे, उस पर भारत में मकबूल फिदा हुसैन और रामकिंकर बेंज ने अपनी मुहर लगायी। कला के क्षेत्र में भी अंतर्राष्ट्रीय धाराओं का संगम हुआ। जीवन आक्रांता शैलियों से जगमग था और भारत ने उनका स्वागत किया। पश्चिम के बारे में पश्चिमी या पूर्व के बारे में पूर्वी कुछ नहीं था, क्योंकि भारत जानता था कि पूर्व दरअसल पश्चिम के अत्यन्त पश्चिम में और पश्चिम, पूर्व के अत्यन्त पूर्व में स्थित है। क्योंकि सूर्य पूर्वी चीन के लिए पश्चिमी अमरीका के पश्चिम में उदय होता है और यह पश्चिमी कैलिफोर्निया के लिए पूर्वी जापान के पूर्व में डूबता है।

विश्वकोषकारों के विचारों का अनुकरण करते हुए फ्रांसीसी क्रान्ति ने जिस बंधुत्व, स्वतंत्रता और समता के संदेश का प्रचार किया, उसको अमरीकी क्रान्ति ने जेफरसन के मानव अधिकारों में विस्तार दिया, और उसकी चरम अभिव्यक्ति आम मनुष्य की सोवियत क्रान्ति में हुई और शोषित तथा दलित मानवजाति मास्को और लेनिनग्राद में जली उस मशाल को लेकर आगे बढ़ी।

विश्व संस्कृति को भारत का अपना योगदान भी अपार रहा है। शांति और सार्वभौम कल्याण के ध्येय में उसके अतीत तथा वर्तमान प्रयत्न भीमकाय रहे हैं। उसने पूर्वग्रह-रहित होकर स्वीकार किया है और निस्संकोच दिया है। आज चूंकि तमाम बातें पूर्णतः स्थिर नहीं हो पायी हैं, इसलिए हर चीज कुहरिल मालूम होती है और इससे कुछ लोगों को लगता है कि जड़ें खो गयी हैं और सब कुछ संक्रमण में है। लेकिन हकीकत यह नहीं है। आज हम ऐतिहासिक आन्दोलनों के साक्षी हैं और तेजी से चीजें बढ़ रही हैं और तेज परिवर्तनशील दिशाओं के कारण आंखें इकाइयों पर टिक नहीं पातीं।

और यह अच्छा ही है, क्योंकि दुनिया इतनी छोटी हो गयी है कि उसे हथेली पर रखा जा सकता है और संपूर्ण का दर्शन एक साथ किया जा सकता है। संपूर्ण को, न कि अंश को, देखना दुनिया के लिए